अङ्कः (Vol.) I   वर्षम् (Year)-2011   ISSN 2231-5799

संस्कृत-वाङ्मयी

SANSKRITVĀṄMAYĪ

(Research Journal)

सम्पादकः

प्रो. बृजेशकुमारशुक्लः

आचार्योऽध्यक्षश्च

संस्कृतप्राकृतभाषाविभागः

लखनऊविश्वविद्यालयः, लखनऊ

Editor

Prof. BRIJESH KUMAR SHUKLA

Professor & Head

Deptt. of Sanskrit and Prakrit Languages

Lucknow University, Lucknow

संस्कृतप्राकृतभाषाविभागः

लखनऊविश्वविद्यालयः, लखनऊ-226007

Deptt. of Sanskrit and Prakrit Languages

Lucknow University, Lucknow-226007

अङ्कः (Vol.) I वर्षम् (Year)-2011 ISSN 2231-5799

संस्कृत-वाङ्मयी

SANSKRITVĀṄMAYĪ

(Research Journal)

सम्पादकः

प्रो. बृजेशकुमारशुक्लः

आचार्योऽध्यक्षश्च
संस्कृतप्राकृतभाषाविभागः
लखनऊविश्वविद्यालयः, लखनऊ

Editor

Prof. BRIJESH KUMAR SHUKLA

Professor & Head
Deptt. of Sanskrit and Prakrit Languages
Lucknow University, Lucknow

संस्कृतप्राकृतभाषाविभागः

लखनऊविश्वविद्यालयः, लखनऊ-226007

Deptt. of Sanskrit and Prakrit Languages
Lucknow University, Lucknow-226007

प्रकाशकः

प्रो. बृजेशकुमारशुक्लः
आचार्योऽध्यक्षश्च
संस्कृतप्राकृतभाषाविभागः,
लखनऊविश्वविद्यालयः, लखनऊ

मूल्यम् - रु. १००
वार्षिकशुल्कम् - रु. १००
आजीवनशुल्कम् - रु. २१००

मुद्रकः-

लेजर ग्राफिक्स, २१४, प्रिन्स काम्पलेक्स, हजरतगञ्जम्, लखनऊ

अङ्कः (Vol.) I वर्षम् (Year)-2011 ISSN 2231-5799

संस्कृत-वाङ्मयी

SANSKRITVĀṄMAYĪ

(Research Journal)

सम्पादकः

प्रो. बृजेशकुमारशुक्लः

आचार्योऽध्यक्षश्च
संस्कृतप्राकृतभाषाविभागः
लखनऊविश्वविद्यालयः, लखनऊ

Editor

Prof. BRIJESH KUMAR SHUKLA

Professor & Head
Deptt. of Sanskrit and Prakrit Languages
Lucknow University, Lucknow

संस्कृतप्राकृतभाषाविभागः

लखनऊविश्वविद्यालयः, लखनऊ-226007

Deptt. of Sanskrit and Prakrit Languages
Lucknow University, Lucknow-226007

प्रकाशकः

प्रो. बृजेशकुमारशुक्लः
आचार्योऽध्यक्षश्च
संस्कृतप्राकृतभाषाविभागः,
लखनऊविश्वविद्यालयः, लखनऊ

मूल्यम् - रु. १००
वार्षिकशुल्कम् - रु. १००
आजीवनशुल्कम् - रु. २१००

मुद्रकः-

लेजर ग्राफिक्स, २१४, प्रिन्स काम्पलेक्स, हजरतगञ्जम्, लखनऊ

बी. एल. जोशी
राज्यपाल, उत्तर प्रदेश

राज भवन
लखनऊ–227 132

दिनांक : 23 सितम्बर, 2011

सन्देश

मुझे यह जानकर अतीव प्रसन्नता हुई कि लखनऊ विश्वविद्यालय के संस्कृत प्राकृत भाषा विभाग द्वारा शोध–पत्र "संस्कृत वाङ्मयी–2011" का प्रकाशन किया जा रहा है।

वस्तुतः भारतीय संस्कृति एवं आध्यात्म के मूल तत्व संस्कृत भाषा में ही है। संस्कृत साहित्य ज्ञान का विशाल भंडार है। विषय–वस्तु इतनी प्रचुर है कि विश्व का कोई भी साहित्य इसकी तुलना करने में सक्षम नहीं है। ऐसा कोई भी विषय छूटा नहीं है, जिसका समावेश संस्कृत साहित्य में मौजूद न हो। सत्य तो यह है कि सभी भारतीय भाषाओं की जननी ही संस्कृत भाषा है।

"संस्कृत वाङ्मयी–2011" शोध–पत्र के सफल प्रकाशन के लिए मैं अपनी हार्दिक शुभकामनाएँ प्रेषित करता हूँ।

बी.एल.जोशी

(बी0एल0 जोशी)

प्रोफेसर मनोज कुमार मिश्र
कुलपति
PROFESSOR M.K. MISHRA
F.A.Sc,F.N.A.Sc
VICE-CHANCELLOR

लखनऊ विश्वविद्यालय
लखनऊ–226007
UNIVERSITY OF LUCKNOW,
LUCKNOW-226007
(U.P.) INDIA

सन्देश

मुझे यह जानकर अत्यधिक हर्ष हुआ कि संस्कृत भाषा–विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा वार्षिक शोध–पत्रिका (रिसर्च जर्नल) **''संस्कृतवाङ्मयी''** का प्रकाशन किया जा रहा है।

संस्कृत वाङ्मय का एक–एक ग्रन्थ गीता और उपनिषद् की तरह विविध रहस्यों से युक्त है जिसका शोध और अनुसंधान आज के युग में बहुत उपयोगी है। **''संस्कृतवाङ्मयी''** के प्रकाशन से संस्कृत में निहित इन रहस्यों का इस प्रकार उद्घाटन होगा कि संस्कृत के क्षेत्र में अनुसंधान कार्य को एक नयी दिशा प्राप्त होगी तथा संस्कृत में निहित ज्ञान–विज्ञान के विविध विषयों का उद्घाटन करके उन्हें समाजोपयोगी व्यावहारिक दृष्टि प्रदान की जा सकेगी। अतः **''संस्कृतवाङ्मयी''** नामक रिसर्च जर्नल के प्रकाशन से सम्पूर्ण संस्कृत जगत् उपकृत होगा। इसके सफल प्रकाशन हेतु सम्पादक साधुवाद के पात्र हैं तथा स्वर्णिम भविष्य के प्रति मेरी हार्दिक शुभकामनाएँ हैं।

अक्टूबर 31, 2011

मनोज कुमार मिश्र

(मनोज कुमार मिश्र)
कुलपति

प्रो. बृजेश कुमार शुक्ल
सम्पादक ''संस्कृतवाङ्मयी'' तथा अध्यक्ष,
संस्कृत तथा प्राकृत भाषा-विभाग,
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

प्रो. राजेन्द्र मिश्र
पूर्व कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी–२२१००२

दूरलेख : 'श्रुतम्'
दूरभाष कार्यालय : (०५४२) २२०४०८९
: (०५४२) २२०४२१३
निवास : (०५४२) २२०६६१७
: (०५४२) २२०७४५७
: (०५४२) २२०६६१७
E-mail : vcssvv_vns@satyam.net.in

दिनाङ्क २६.५.२०११

नान्दीवाक्

प्रिय प्रो. शुक्ल
हार्दिक आशीः एवं शुभकामनायें।

यह जान कर हार्दिक उल्लास का अनुभव कर रहा हूँ कि आपके वत्सल संरक्षण एवं नित्य-जाग्रत आध्यक्ष्य में संस्कृत-विभाग लखनऊ विश्वविद्यालय शोध-पत्रिका 'संस्कृतवाङ्मयी' के प्रकाशनार्थ प्रस्तुत है। यह, निमित्तदृष्ट्या तो आपके अभ्युदय का सूचक सन्दर्भ है परन्तु उपादानदृष्ट्या समूचे संस्कृत-जगत् का मङ्गलसूचक वृत्त है। कृपया एतदर्थ मेरी हार्दिक बधाइयाँ एवं शुभकामनायें स्वीकार करें।

आप आचार्य अय्यर, आचार्य कान्तिचन्द्र पाण्डे, आचार्य सत्यव्रत सिंह एवं प्रो. मिश्र, प्रो. कालिया के उत्तराधिकारी हैं। आपमें स्वाध्याय एवं विनय के साथ ही साथ कारयित्री प्रतिभा का भी मञ्जुल सन्निवेश है। अतः आपसे संस्कृत-जगत् को प्रभूत आशायें हैं। मेरा हार्दिक लगाव आपसे है। यह सारस्वतोपक्रम चिरजीवी हो, यही आकांक्षा है।

सस्नेह
अभिराजराजेन्द्रमिश्र

प्रो. अशोक कुमार कालिया
पूर्व कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी—२२१००२

दूरभाष : (0522) 4041435
मोबाइल : 09889816504
E-mail : a.kalia@rediff.com
'श्रीनिवासः',बी—1/19, कल्याणविहार
(सेक्टर 'के'), अलीगंज, लखनऊ—226024

॥श्रीः॥

शुभाशंसाः

लखनऊविश्वविद्यालयीय-संस्कृतप्राकृतभाषाविभागेन नूतनवस्त्राभरणभूषिता संस्कृतवाङ्मयी- नामधेया काचिच्छोधपत्रिका प्रकाश्यत इति विज्ञाय परमां मुदमवाप्तवानस्मि। अस्मादेव संस्कृतप्राकृतभाषाविभागात् पूर्वमपि कदाचिद् 'विमर्श' इति नाम्ना कदाचिच्च 'वाङ्मयी' इति नाम्ना पत्रिकाः प्रकाशिता अभूवन्। कालक्रमेण सा परम्पराऽवरुद्धा जाता, किन्त्विदानीं विभागाध्यक्षेण प्रो० बृजेशकुमारशुक्ल-महाभागेन कामपि विशिष्टकल्पनाशीलतामाश्रित्य व्यवस्थितरूपेणोच्चस्तरीयशोधपत्रिकास्वरूपानुरूपमेतत् पत्रिकाप्रकाशनकार्यं नूतनतया पुनरुपक्रान्तम् इत्यस्ति खलु महतो हर्षस्य विषयः। एतदर्थं प्रो. शुक्लमहाभागः साधुवादार्हः सर्वथा। देशे विदेशे च प्रसिद्धस्याऽस्य विभागस्य शोधक्षेत्रेऽस्त्यत्यन्तगौरवशालीतिहासो विशिष्टा परम्परा च। संस्कृत-प्राकृत-भाषाविभागस्याऽस्यैतद् वैशिष्ट्यं यथाऽक्षुण्णमवतिष्ठेत्तथा सर्वैरपि संस्कृतप्रणयिभिर्विभागीयच्छात्राध्यापकैः स्वधर्मबुद्ध्या प्रयतनीयम्। एतस्यां पृष्ठभूमौ 'संस्कृतवाङ्मयी'-पत्रिकायाः प्रकाशनमस्ति कश्चन महत्त्वपूर्णः स्पृहणीयश्च प्रयासः। पत्रिकासाफल्याय स्वकीया हार्दिक्यः शुभाशंसाः विनिवेदयेऽहम्।

आशासे विश्वसिमि च यत् पत्रिकेयं शोधक्षेत्र उत्तरोत्तरोत्कर्षं प्राप्स्यति इति।

अथ च-

नीरक्षीरविवेकिभिर्बहुमताऽऽप्यास्वादिताऽध्येतृभिः
नानाशास्त्रमहाब्धिमन्थजनिता पीयूषपूर्णा घटी।
तत्त्वान्वेषपरा प्रमाणपुषिता निष्पक्षतर्कान्विता
सेयं **संस्कृतवाङ्मयी** विजयतां विज्ञानमञ्जूषिका॥इति॥

अशोककुमार कालिया

(अशोककुमारकालिया)

प्रो. बृजेशकुमारशुक्लः
विभागाध्यक्षः
संस्कृतप्राकृतभाषाविभागः
लखनऊ विश्वविद्यालयः, लखनऊ

GRAMS : VIDYAPEETHA

Prof. HAREKRISHNA SATAPATHY
VICE CHANCELLOR

RASHTRIYA SANSKRIT VIDYAPEETHA
(University established under sec.3 of UGC Act, 1956)
TIRUPATI - 517 064 (A.P.)
(Accredited at A+ Level by NAAC)

Office : Ph.0877-2287680
Fax : 2287838
Residence : Ph. : 2287826
Fax : 2286349
E-mail : hks_vc@yahoo.co.in

"Centre of Excellence in the Subject of Traditional Sastras"

शुभसन्देशः

मानवसमाजं सत्पथे प्रवर्तयितुमनादिकालात् सुविस्तृतसंस्कृतवाङ्मयस्य महदवदानमनस्वीकर्तव्यम्। समाजसंस्कारकाः महापुरुषाः सन्मार्गदर्शकाः महर्षयश्च मानवीयं व्यवहारं नियन्त्रयितुं संस्कृतवाङ्मयस्य विस्ताराय प्रयतितवन्तः। यतो हि सुसंस्कृता वाणी सर्वथा पुरुषं भूषयति। तदुक्तं भर्तृहरिणा- "क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम्" इति। अतः विविधरचनावैचित्र्येण सुसंस्कृतायाः वाण्याः प्रसारणेन संस्कृतसेवकैरस्माभिः मानवीयशोभावर्धनार्थं प्रयत्नः विधेयः। सन्दर्भेऽस्मिन् लखनऊविश्वविद्यालयीयसंस्कृतप्राकृतभाषाविभागीयानुकूल्येन "**संस्कृतवाङ्मयी**" नामिकाऽनुसन्धानपत्रिका प्रकाश्यत इति महतः हर्षप्रकर्षस्य विषय एषः। प्रयासोऽयं सर्वथा सर्वैरभिनन्दनीय एव।

संस्कृतवाङ्मये अनुसन्धानलेखप्रकाशनस्य महार्घे कालेऽस्मिन् ये केचन सारस्वतसाधकाः तदीयाभिनवचिन्तनपुरस्सरं संस्कृतवाङ्मस्य लुक्कायितं तथ्यं लोकलोचनगोचरीकरणे प्रयतन्ते; ते प्रतिभावन्तः महान्तः यशस्विन एव। ये च तत्कार्यभारं शिरसि निधाय साधकत्वेन भगवत्याः सरस्वत्याः समाराधने दत्तचित्ताः; तेऽप्यभिवन्द्याः पुनः पुनः।

अधुना "**संस्कृतवाङ्मयी**" इति शोधपत्रिका प्रो. बृजेशकुमारशुक्लमहोदयानां सम्पादकत्वे प्रथमाङ्करूपेण आत्मप्रकाशं कुरुते। अत्र विद्यमानाः शोधविषयाः विद्यार्थिनां विदुषामनुसन्धित्सूनां पाठकानाञ्च कृते नितरामुपादेया इत्याशासे। अस्य सारस्वतकर्मणः सफलतायै प्रयत्नरतेभ्यः सर्वेभ्यः साधुवादान् समर्प्य श्रीवेङ्कटाचलपतिः श्रीपतिः तिरुपतिः पत्रिकायाः अस्याः उत्तरोत्तराभिवृद्धये सहायको भवत्विति सम्प्रार्थये।

हरेकृष्ण शतपथी

(प्रो. हरेकृष्णशतपथी)

कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी–२२१००२ (उ.प्र.)

दूरलेख : 'श्रुतम्'
दूरभाष :
कार्यालय : (०५४२) २२०४०८९
निवास : (०५४२) २२०४२१३
: (०५४२) २२०६६१७
फैक्स : (०५४२) २२०६६१७

दिनांक २१.५.२०११

शुभाशंसा

संस्कृत भारत की आत्मा है। इसमें ज्ञान-विज्ञान का विपुल भण्डार है। ज्ञान-विज्ञान की इस अमूल धरोहर को लक्ष्मणपुरी के लखनऊ विश्वविद्यालय ने संस्कृत एवं प्राकृत भाषा विभाग के माध्यम से संस्कृत भाषा में छिपे विपलु ज्ञान की निधि को विस्तारित करने का स्तुत्य प्रयास किया है, इसके लिये सर्वप्रथम विभाग के सभी सम्माननीय अध्यापकों को मैं अपना साधुवाद देता हूँ। मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि संस्कृत प्राकृत-भाषा विभाग के सौजन्य से विभागीय अनुसंधान पत्रिका **संस्कृतवाङ्मयी का वर्ष २०११ के अंक का प्रथम प्रकाशन होने जा रहा है।** इसके प्रारम्भिक अवलोकन से ज्ञात होता है कि इसमें प्राचीन भारतीय वाङ्मय सम्बन्धी अध्ययन विषयों में वेद, व्याकरण, दर्शन, पुराणेतिहास, संस्कृति इत्यादि सन्दर्भों का आश्रय लेकर गहन विश्लेषण और विवेचन किया गया है, जो संस्कृत अध्येताओं के लिये अत्यन्त उपादेय है। वस्तुतः **"संस्कृतवाङ्मयी" अनुसंधान प्रधान निबन्धात्मक पत्रिका के होने से शोध अध्येताओं के लिये सहायक एवं ज्ञानार्जन की महत्त्वपूर्ण सामग्री है।**

शोधोपयोगी **संस्कृतवाङ्मयी** में अनेक संस्कृत शास्त्र के निपुण प्रतिष्ठित विद्वानों की रचना न केवल शोध-छात्रों अपितु संस्कृत जगत के लिये भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। **सम्पादक एवं प्रकाशक प्रो. बृजेश कुमार शुक्ल के सत्संकल्प हेतु बधाई देता हूँ कि उनके ऊर्जावान व्यक्तित्व के संरक्षण में विभाग प्रगति के नये मार्ग पर प्रशस्त हुआ है।** इसके साथ ही सम्पादक मण्डल के प्रत्येक सदस्यों को बधाई है। विशेष रूप से **प्रतिष्ठित विद्वानों के लेखन के लिये उनके तप और साधना के लिए भी मैं उन विद्वानों का अभिनन्दन करता हूँ।**

(प्रो. बिन्दा प्रसाद मिश्र)
कुलपति

आचार्यः रामानुज देवनाथः
कुलपतिः
Prof. Ramanuja DEVANATHAN
Vice Chancellor

जगद्गुरुरामानन्दाचार्य–
राजस्थानसंस्कृतविश्वविद्यालयः
मदाऊ, भांकरोटा, जयपुरम् (राज.)–302026
JAGADGURU RAMANANDACHARYA
RAJASTHAN SANSKRIT UNIVERSITY,
Madau, Bhankrota, jaipur (Raj.)-302026
Phone : 0141-5132001 (O)
0141-5132002 (R)
Website : jrrsanskrituniversity.ac.in

दिनाँक २४.५.२०११

वर्धतां भारती

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः- इति हि वेदघोषः। स च क्रतुराचार्यमुखाद्याति, आतश्च श्रुतिः-आचार्यवान्पुरुषो वेद इति। पुरा तद्धि कोशवान् आचार्य इति कीर्त्यते स्म। साम्प्रतं कोशेभ्योऽपि लघीयान् उपायः सूक्ष्मतरज्ञानप्राप्तये विद्यते शोधपत्रिकेति। ताहशाः पत्रिका बहुधा बहुत्र प्रकाश्यन्ते, परं काश्चनैव प्रतिष्ठां लभन्ते। ताहशीष्वन्मतमतां भजेतेयं शोधपत्रिका **"संस्कृतवाङ्मयी"** नाम्नी। इयं खलु लक्ष्मणपुरविश्वविद्यालयस्य संस्कृतप्राकृतभाषाविभागेन प्रकाश्यते। अत्रान्तर्गतानां निबन्धानां शीर्षकैरेव पत्रिकाया गुणः प्रतीतिं याति।

एतादृशोद्यमाय विद्वांसः आचार्य बृजेशकुमारशुक्लवर्याः विभागाध्यक्षाः तत्सहकर्मिणश्च भृशमभिनन्द्यन्ते। वर्धतां संस्कृतसेवेत्याशास्महे।

अशेषविघ्नशमनोऽनीकेश्वरोऽव्यात्।

श्रीकर-वृषभ-कृष्ण-षष्ठी
२३.०५.११

इत्थं
विदां वचनकरः
(रामानुजदेवनाथः)

FORM-IV

(See Rule 8)

1. Place of Publication	Deptt. of Sanskrit and Prakrit Languages Lucknow University, Lucknow
2. Periodicity of its publication	Yearly
3. Printer's Name	Prof. Brijesh Kumar Shukla
Nationality	Indian
Address	Professor & Head, Deptt. of Sanskrit and Prakrit Languages, Lucknow University, Lucknow
4. Publisher's Name	Prof. Brijesh Kumar Shukla
Nationality	Indian
Address	Professor & Head, Deptt. of Sanskrit and Prakrit Languages, Lucknow University, Lucknow
5. Editor's Name	Prof. Brijesh Kumar Shukla
Nationality	Indian
Address	Professor & Head, Deptt. of Sanskrit and Prakrit Languages, Lucknow University, Lucknow
6. Name and address of individual who own the newspaper and partners or shareholders holding more than one percent of the total capital	Head, Deptt. of Sanskrit and Prakrit Languages, Lucknow University, Lucknow -226007

I, BRIJESH KUMAR SHUKLA, hereby declare that the particulars given above are true to the best of my knowledge and belief.

December 07, 2011

Prof. BRIJESH KUMAR SHUKLA
Publisher

सम्पादकीयम्

गीर्वाणवाङ्मयस्याऽनुसन्धानवर्त्मनि कृताऽनुसन्धानसङ्कल्पा नैकाः संस्थाः शोधचिकीर्षूणां विदुषां ज्ञानप्रभाप्रसाराय विविधाऽनुसन्धानपत्रपत्रिकाणां सफलसम्पादने कृतभूरिपरिश्रमा दरीदृश्यन्ते। एतस्यामेवाऽक्षुण्णपरम्परायां विदुषां वंशवदोऽयं लखनऊविश्वविद्यालयीयसंस्कृतप्राकृतभाषाविभागोऽपि **'संस्कृतवाङ्मयी'**तिनामधेयाया वार्षिकाऽनुसन्धानपत्रिकायाः प्रकाशनाय कृतनिश्चयो जातः। एतस्मात्पूर्वमप्यनेन विभागेनाऽनुसन्धानपत्रिकाप्रकाशनमकारि किन्तु प्रायः सप्तवर्षेभ्यः प्रागेवेयं सरणिरवरुद्धा जाता। सम्प्रति **'संस्कृतवाङ्मयी'** त्यभिधानेनाऽस्या नवप्रसवमभिकल्प्य अन्ताराष्ट्रियाऽभिज्ञानेन (ISSN) सार्द्धं **रिसर्च जर्नल'**- रूपेणाऽनुसन्धानप्रसवोऽयं देववाणीवाङ्मयस्याऽनुसन्धानप्राङ्गणे प्रथमपुष्परूपेण प्राकाश्यमुपनीयते।

विषयवस्तुदृशा प्रौढतमैषा पत्रिका न केवलमत्रत्यानां लक्ष्मणपुरस्थाना-मनुसन्धातॄणामपितु विविधप्रदेशेषु प्रतिष्ठापितज्ञानयज्ञानां निखिलेऽपि भारतवर्षे लब्धप्रतिष्ठानामनुसन्धानतत्त्वमर्मज्ञानां सुधियां शोधपत्रप्रकाशनेन नितरां गौरवमनु-भवति। हिन्दीसंस्कृताङ्ग्लभाषागुणमयीयं खलु **'संस्कृतवाङ्मयी'** त्यनुसन्धानपत्रिका वेददर्शनसाहित्यपालिधर्मशास्त्रवास्तुशास्त्रज्योतिर्वैज्ञानिकचिकित्साशास्त्रादि-विविधविषयभाजनत्वेन विद्योततेतराम्। हिन्दीसंस्कृताङ्ग्लभाषाभिश्चालङ्कृताः खलु सर्वे लेखाः शोधपत्राणि वा शोधप्रौढिचातुरीसमलङ्कृता विद्वज्जनादृता भवितुमर्हन्ति। अनुसन्धानपत्रिकायाः प्रारम्भिकेऽस्मिन् अङ्के त्रिभाषिकाः सप्तदशलेखाः शोधपत्राणि वा समपादिषत। अष्टसङ्ख्यापरिमितानि यानि शोधपत्राणि संस्कृतभाषामाध्यमेन पत्रिकामिमामलङ्कुर्वन्ति तेषु **'श्रीपाञ्चरात्रा-गमदर्शननिष्णातशेमुषीको विपश्चिन्मनीषीगुरुवर्यः'** इत्याख्योऽप्रतिमो गुरुसपर्यासमर्पितो लेखोऽप्रतिमविद्वांसं विशिष्टाद्वैतशेमुषीकमृषिकल्पं सम्पूर्णानन्दविश्वविद्यालयस्य यशस्विनं कुलपतिचरं गुरुदेवं संस्तौति। प्रथमलेखत्वेनेमं लेखं प्रणीय पत्रिकाया अस्याः सम्पादकेन लखनऊविश्वविद्यालयीय-

संस्कृतप्राकृतभाषाविभागाध्यक्षेन **प्रो. बृजेशकुमारशुक्लेन** मन्येऽहं मङ्गलाशंसनमकारि। रायबरेलीजनपदस्थे वैशवारामहाविद्यालयेऽध्यापनकर्मणि व्यापृता **डॉ. गायत्रीशुक्ला 'कुमारिलमतेऽर्थापत्तिप्रमाणम्'** इति सञ्ज्ञकं शोधपत्रं प्रस्तूय पत्रिकाया द्वितीये लेखे मीमांसाभिमतमर्थापत्तिप्रमाणं सुष्ठुतया निष्पादितवती। **डॉ. जी.शङ्करनारायणकृते 'धर्मशास्त्रवाङ्मये दुर्गविधानम्'** इत्याख्ये शोधपत्रे दुर्गविधानस्य धर्मशास्त्रीयं महत्त्वं स्वरूपञ्चोररीकृतम्। **'वेदानामीश्वरकर्तृत्वेऽ-पौरुषेयत्वविमर्शः'** इत्याख्ये वेदविषयके शोधपत्रे लखनऊ-विश्वविद्यालयस्य संस्कृतप्राध्यापकेन **डॉ. प्रयागनारायणमिश्रेण** वेदानामपौरुषेयत्वमान्वीक्षिकधिया नूतनतयाऽवोचि। संस्कृतभाषाप्रणीतेऽपरे शोधपत्रे संस्कृतविभागस्योपाचार्येण **डॉ. रामसुमेरयादवेन 'काव्येषु मुक्तकं श्रेयः'** इतिविषयमधिकृत्य संस्कृतवाङ्मये मुक्तककाव्यानां वैभवमुररीकृतम्। संस्कृतप्राकृतभाषाविभागीये समुत्कर्षकेन्द्रे शोधसहायकरूपेणाऽनुसन्धानधियोपकृतवतो **डॉ. सरोजकुमारशुक्लस्य 'पारस्करगृह्यसूत्रे कन्यायाः सुमङ्गलीत्वनिर्धारणम्'** इत्याख्ये शोधपत्रे कन्यायाः सुमङ्गलीत्वं सुष्ठुतया विचारितम्। अधिगतराष्ट्रपतिपुरस्कारवर्येण मध्यप्रदेशस्य जबलपुरे राराज्यमाणेनाऽऽचार्यप्रवरेण **प्रो. रहसविहारीद्विवेदि**महाभागेन मौलिकचिन्तनप्रसवेन प्रणीतो लेखो**ऽथशोधाधिकारी'** न केवलमद्यतनीनमनु-सन्धानप्रविधिमनुसन्धानप्रक्रियां वा परिभाषतेऽपितु व्यङ्ग्यात्मकशैलीमधिकृत्य शोधाधिकारिणां वास्तविकं चित्रमुत्किरति। एतेषामेव विद्वद्वर्याणां काव्यप्रणयनमेकं **'प्राज्ञपरिषद्'**-नाम्नाऽपि पत्रिकामिमामलङ्करोति। इत्थं संस्कृतभाषामाश्रित्य प्रणीतेष्वष्टसङ्ख्यकेषु शोधपत्रेषु पृथक्-पृथग् विषयाः शोधदृष्टिमुन्मीलयन्ति।

हिन्दीभाषामधिकृत्य प्रणीतशोधपत्रनिचये**ऽभिराजराजेन्द्रमिश्रैः** कुलपतिचरैः स्वकीयेन महार्घप्रणयनेन **संस्कृतवाङ्मयीयं** महत्सौभाग्यमनुभवति। **'मुक्तक संस्कृत काव्यों में कवि समय'** इति विषये चिन्तनमन्दाकिनीं प्रवाहयति विद्वच्छिरोमौलिः **प्रो. राजेन्द्रमिश्रो** बहुभिर्मुक्तककाव्यबन्धदृष्टान्तैः।। बौद्धदर्शनमधिकृत्य **'श्रीलङ्का में बौद्ध परम्परा का विकास'** इति सञ्ज्ञकं शोधपत्रं न केवलं श्रीलङ्कायां बौद्धसाहित्यशेवधिमुद्घाटयत्यपितु लखनऊविश्वविद्यालयस्यो-

पाचार्यवर्यायाः **डॉ. अरुणाशुक्लाया** बौद्धदर्शनज्ञानपरम्परां प्रख्यापयति। **'मृच्छकटिकम् में शासनव्यवस्था'** इति विषयमाश्रित्य विभागीयाया विषयविशेषज्ञाया **डॉ. शालिनीमिश्रायाः** शोधपत्रं तत्कालीनं शासनव्यवस्थां सुष्ठु निरूपयति। विभागीयाऽध्यापकस्य **डॉ. अभिमन्युसिंहस्य 'रामराज्य एक आदर्श और वास्तविकता'** सञ्ज्ञकं शोधपत्रं रामायणे प्रतिविम्बितं रामराज्यस्यादर्शस्वरूपमभिव्यनक्ति। गुवाहाटी-असम-प्रदेशेऽधिगतख्यातिर्विद्वन्मौलिः **प्रो. हेमुमहेशराठौङ्** महाभागो **'युक्तिकल्पतरुग्रन्थानुसार वास्तुविमर्शाऽऽख्यं** शोधपत्रं प्रस्तूय भोजराजस्य वास्तुविज्ञानं विशदतया प्रख्यापितवान्। **'वेदान्त-विलास'-दार्शनिकनाट्यपरम्परा में अनूठा प्रयोग'** इति विषयमधिकृत्य प्रणीते दार्शनिकेऽथ च साहित्यिके काव्यशास्त्रीये शोधपत्रे कर्णपुरीया विदुषी **डॉ. सुधागुप्ता** स्वकीयं मौलिकं चिन्तनं प्रस्तूय वेदान्तविलासवैभवं चित्रितवती।

संस्कृतवाङ्मयीत्याख्यायामेतस्यामनुसन्धानपत्रिकायां त्रयो लेखास्त्रीणि शोधपत्राणि वाऽऽङ्ग्लभाषायां स्वकीयान् विषयान् प्रतिपादयन्ति। **'अहिंसा इन् द मनुस्मृति-इट्स माडर्न पर्सपेक्टिव'** इति आङ्ग्लभाषानिबद्धे **डॉ. हिरनशर्मणः** शोधपत्रे मनुस्मृतिमधिकृत्याऽहिंसायाः स्वरूपविमर्शपूर्वकमाधुनिकपरिप्रेक्ष्येऽस्या माहात्म्यं नितरामुररीकृतम्। **डॉ. दामोदरन् पी.एम्.** इत्याख्यो विद्वान् स्वकीये **'थेरेप्यूटिक इम्प्लीकेशन्स इन् भरताज़ नाट्यशास्त्र फार बाडी परफेक्शन आफ ऐक्टर्स'** इत्याख्ये नाट्यशास्त्रीयेऽथ च चिकित्साशास्त्रीयेऽनुसन्धानपत्रे अभिनेतृणां कायिकेऽभिनये बहून् चिकित्साशास्त्रीयान् स्वास्थ्यविज्ञानपरान् च सिद्धान्तान् स्वधिया प्रकाशितवान्।। **डॉ. सुदेवकृष्णशर्मन्** जी-प्रणीतेऽन्तिमे ज्योतिर्वैज्ञानिके शोधपत्रे **'डिकैनेट्स आफ हिन्दू ऐस्ट्रोलोजी'** इति विषये भारतीय-ज्योतिषशास्त्रस्य विविधा दाक्षिणात्यपक्षा विमृष्टा जाताः।

वार्षिकाऽनुसन्धानपत्रिकाया अस्याः प्रकाशने यैर्विद्वद्वरेण्यैर्महार्घाणि शोधपत्राणि प्रत्तानि ते सर्व एव विद्वांसो धन्यवादपदवीमर्हन्ति। प्राज्ञपरिषद्रूपेण परामर्शदातृसमितिसादस्यमङ्गीकृत्य यैर्विश्वगौरवास्पदैर्विद्वद्वरेण्यैः महदनुग्रहः कृतस्तेभ्यः पञ्चमहापुरुषेभ्यः सम्पादकः सादरं कार्तज्ञ्यं निर्वहति। विश्वविद्यालयस्य

कुलाधिपतिवर्यैर्महामहिमराज्यपालमहोदयैः स्वकीयैराशीर्वादामृतवचोभिः पत्रिकेयं सनाथीकृता, एतदर्थं ते हार्दिकं कार्तज्ञ्यमर्हन्ति। भारतीयदर्शनशास्त्रनिष्णातो वैज्ञानिकप्रवरो लखनऊ-विश्वविद्यालयस्य कुलपतिपदेऽभिषिक्तः **प्रो. मनोजकुमारमिश्र**महाभागः संरक्षकत्वेन यत् स्वकीयैराशीर्वचोभिः शोधपत्रिकामिमालङ्कृतवान् तदर्थं तत्रभवान् सादरं धन्यवादपदवीं गच्छति। अन्येऽपि ये कुलपतिचराः विद्वांस इतरे च मनीषिणः पत्रिकायां प्रकाशनायाऽमृतसन्देशान् प्रेषितवन्तस्तेऽपि सर्वे धन्यवादपदमुपगच्छन्ति।। सम्पादकमण्डलस्य यैर्विभागीयैः सदस्यैः साहाय्यमाचरितं ते सर्वेऽपि धन्यवादार्हास्तान् सर्वान् प्रति कार्तज्ञ्यं प्रकटयन् मनो मे मोदतेतराम्। अन्येऽपि च ये प्रत्यक्षाप्रत्यक्षरूपेणास्याः पत्रिकायाः प्रकाशने सम्पादने स्वरूपावाप्तौ च यत्किञ्चित् साहाय्यमचरितवन्तस्ते सर्वेऽपि धन्यवादतामवतरन्ति। प्रकाशनकर्मण्यपि यैर्महानुभावैः साहाय्यं प्रत्तं तेषां समेषामपि कार्तज्ञ्यं विभागोऽयं हृदयेनावहति।

इत्थं हिन्दीसंस्कृताङ्ग्लभाषान्वितानि सप्तदशशोधपत्राणि **'संस्कृतवाङ्मयी'** त्याख्याया अनुसन्धानपत्रिकायाः प्रथमेऽस्मिन् अङ्केऽनुस्यूतानि वर्तन्ते। **'सप्तदशो वै प्रजापतिः'** इति मत्वा प्राजापत्यमिमङ्कं विदुषां गवेषकाणाञ्च समक्षमुपस्थापयतो नितरां प्रमोदते नो हृदयम्। आशास्यते यत् पत्रिकाया अयमङ्को विदुषां हस्ताम्बुजेषु समागत्य स्वीयं वैशिष्ट्यं स्वयमेव प्रख्यापयिष्यति। अनुसन्धानपत्रिकयाऽनया चेद् विद्वद्हृद् आह्लादितोऽभविष्यत्तर्हि विभागोऽयं भूम्ना कृतकृत्यतामगमिष्यत्। पत्रिकायां मुद्रणसम्बद्धा अशुद्धयोऽपराश्च त्रुटयो वा कुत्रचिच्चेद् दरीदृश्यन्ते तर्हि **'हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः'** इति सूक्तिमनुसृत्य विद्वद्भिस्तास्त्रुटयः सुष्ठु परिमार्जनीयाः सूचना दातव्याऽथवा येन भाविपरिमार्जनं भवेदिति। एवमस्याः पत्रिकायाः प्रसवाङ्कुसुममिदं विपश्चितां कररुहेभ्यः समर्प्य सम्पादकः स्वात्मानं कृतकृत्यं मन्वानो नितरां प्रमोदमुपगच्छति।।

◆◆◆

विषयाऽनुक्रमणिका

श्रीपाञ्चरात्रागमदर्शननिष्णातशेमुषीको विपश्चिन्मनीषी गुरुवर्यः

प्रो. बृजेशकुमारशुक्लः
आचार्योऽध्यक्षश्च, संस्कृतविभागे,
लखनऊविश्वविद्यालये, लखनऊ

अखिललोकललामभूतायां भगवतो विश्वेश्वरस्य पुर्यां काश्यां सम्पूर्णानन्दसंस्कृत-विश्वविद्यालयस्य कौलपत्याधिभारं श्रीवैष्णवागमविशारदो वशीकृतशारदो विद्वद्धौरेयः श्रीरामानुजदर्शनाऽलङ्कृत-शेमुषीको देववाण्या विलसन्मुखेन्दुप्रतिभः सहृदयकोविदपुंस्कोकिलः तत्रभवान् श्रीगुरुवर्यः प्रो. अशोककुमारकालियामहोदयस्तथैव सुष्ठु विभर्त्ति स्म यथा भगवान् भूतभावनो विश्वनाथः काशीं धारयामास। तत्रभवतः कालियावर्यस्य चरणारविन्दयोर्मम धन्यानि तानि रमणीयानि क्षणानि लक्ष्मणपुरे समतीतानि द्वाविंशतिवर्षाणि, येषु न केवलं मयि विविधविद्याकमलानि विकसितानि, अपितु **'विद्या ददाति विनय'** मिति सूक्तिमपि तद्व्यक्तित्वे साकारतया दर्शं दर्शं स्वजीवनेऽप्यहं तामाचरितुं नितरां कामये। एतत्खलु गुरोर्गुरुव्यक्तित्वस्य प्रभावो येन गुरुवर्याणां सुचरितान्युपास्यानि भवन्ति। सारस्वतविप्रान्वयप्रसूतस्य तत्रभवतः पूज्यस्य कालियामहोदयस्य सारस्वतीं प्रतिभां चेद् वर्णयामि, मन्ये सरस्वत्यपि नेर्ष्याकलुषायिता स्याद् अपि चैष सरस्वत्या दधीच इति तर्कयामि तर्हि तद्वर्णनमाधुरीं कश्चिदपरो बाणभट्ट एवाऽऽख्यातुं प्रभवति। अहं तु केवलं विल्हणमुखेन श्रीगुरुप्रातिभसुषमामवलोकयितुं पारयामि, ममाऽकिञ्चनस्य तद्वैदुष्यवर्णनक्षमस्य शब्दस्याऽभावात् -

जयन्ति ते पञ्चमनादमित्र-

चित्रोक्तिसन्दर्भविभूषणेषु।

सरस्वती यदवदनारविन्दे-
ष्वाभाति वीणामिव वादयन्ती।[1]

निश्चप्रचमेव सरस्वती गुरुवर्यस्य श्रीकालियाधीमतो मुखारविन्दे स्वकीयां कच्छपीं वादयन्तीवाऽवतिष्ठते। यतो हि न केवलमेष विशिष्टाद्वैतदर्शने निष्णातोऽपितु व्याकरणेऽपि सुस्नातः, काव्यशास्त्रसरोवरेऽवगाहितः, साहित्यसमुद्रपारङ्गतः, अद्वैतवेदान्तेऽद्वैतः, मीमांसाम्बुधिसुमग्नः, तर्कनौर्नैयायिकः, कविताकामिनीविरचनप्रसाधकः श्रीवैष्णवागमरहस्यसाधकः अन्यासु विद्यासु च नवनवोन्मेषशालिनीप्रतिभाविधायकश्चाऽसौ विद्वद्वरेण्यो दरीदृश्यते। तत्रभवतः श्रीगुरोर्विषयेऽहमिदानीं लेखनीचालनं न केवलं धन्यं पूततमं मन्येऽपितु तानि क्षणानि किल धन्यानि पवित्रतमत्वेन प्रतिष्ठितानि स्युर्येषु गुरूदन्तमेतद् विलिखामि।

एकोनविंशतितमशताब्द्या उत्तरार्द्धे प्रायः पञ्चविंशत्युत्तरशताब्दपूर्वे **कर्पूरस्थला** राज्यस्य नरपतेरामन्त्रणेन प्रेरणया चैकः सारस्वतब्राह्मणवंशीयो ब्रह्मचारी सिद्धयोगी च कश्चिद् गेंदारामोऽभिधानो महात्मा तीर्थयात्रापरोऽयं पञ्जाबतो वाराणसीमागत्य पुनश्च बहराइचजनपदे 'बौण्डी' नाम ग्राममाजगाम। तेन महात्मना कर्पूरस्थलाराज्यस्य राज्ञ आदेशानुसारं तत्र मन्दिरमेकं निरमायि। एतस्य पूज्यस्य सिद्धयोगिनश्चमत्कारं वीक्ष्य राजा महात्मने तत्सम्बन्धिनां कृते चाऽऽवासभूमिं प्रदायाऽन्याः सुविधाः प्रायच्छत्। शनैःशनैः महात्मनो गेंदारामस्य सम्बन्धिनः परिवारिजनाश्च तत्राऽऽगत्य निवासं चक्रुः। तेषु महात्मनो भ्रातृजः पण्डितो गौरीशङ्करकालियाऽप्यासीत्। तत्र भवतः पण्डितस्य गौरीशङ्करकालिया-महोदयस्य पुत्रः पण्डितो गिरिधारीलालकालिया बभूव। गुरुवर्यः प्रो. अशोककुमारकालियामहोदयः पण्डितस्य श्रीगिरिधारीलालकालियाख्यस्य द्वितीयपुत्रत्वेनोत्तरप्रदेशराज्यस्य बहराइचजनपद-स्थिते **'बौण्डी'** ग्रामेऽप्रैलमासस्य २० तारिकायां १९४४ खिस्ताब्दे जन्म लेभे। अस्य मातुर्नाम श्रीमती सुभद्रादेवीकालियाऽऽसीत्। धार्मिकसात्त्विकसंस्कारैः संस्कृते परिवारेऽवतीर्णत्वात्पूज्यः कालियामहोदयोऽपि हृदयेन सात्त्विकसंस्कारान् बभार। स यथा विद्यावान्

---
१. विक्रमाङ्कदेवचरिते १/१०

तथैव विनयी सञ्जातः, यथा प्रज्ञावान् तथैव दृढनिश्चयी बभूव, यथा रमणीयवपुष्मान् तथैव सहृदयोऽभूत्, यथा गुणवान् तथैव दर्परहितोऽभवत्, यथा सुशीलस्तथैव च मात्सर्यादिदोषहीनोऽवर्तत।

प्रारम्भिकीं शिक्षामारभ्य मिडिलकक्षां यावच्छ्रीकालियामहोदयो **बौण्डी** ग्राम एव शिक्षां प्राप्य माध्यमिकीं शिक्षामचीकमत। एतदर्थं तेन बहराइचजनपदस्य **इकौना** नामधेय उपनगरे जगज्जीत-इण्टरकालेजाख्यायां संस्थायामध्ययनमकारि। ततः कालियामहोदयः १९५७ खिस्ताब्दे हाईस्कूलपरीक्षां १९५९ खिष्ट्राब्दे च इण्टरमीडिएटपरीक्षां समुत्तीर्णवान्। ततश्चोच्चशिक्षाप्राप्त्यै स लखनऊविश्वविद्यालये प्रविष्टः। प्रो. कालिया १९६२ खिष्ट्राब्दे बी.ए. (आनर्स) परीक्षामुत्तीर्य प्रथमश्रेण्यां पुनश्च संस्कृतविषये एम.ए. परीक्षां १९६३ खिस्ताब्दे प्रथमश्रेण्यामेव दर्शनवैशिष्ट्येन समुत्तीर्णवान्। एम.ए. कक्षायामध्ययनं कुर्वन्नेव कालिया-महोदयस्तत्कालीनैर्लक्ष्मणपुरविश्वविद्यालयस्य संस्कृतप्राकृतभाषाविभागाध्य-क्षैर्निष्णातविशिष्टाद्वैतदर्शनविशिष्टशेमुषीकैः प्रो. सत्यव्रतसिंहवर्यैः प्रभावितः सन् विशिष्टाद्वैतदर्शने शोधकार्यं चिकीर्षुरयं शोधोपाध्यर्थं लखनऊविश्वविद्यालय एव प्रो. सिंहस्य निर्देशने पञ्जीकरणं व्यधात्। प्रो. सत्यव्रतसिंहवर्यैः प्रेरित आदिष्टश्चायं विशिष्टाद्वैतदर्शनस्य विशिष्टाध्ययनाय १९६३ खिस्ताब्द एव मैसूरनगरं जगाम। तत्र मैसूरनगरे विशिष्टाद्वैतदर्शनस्य श्रीवैष्णवसम्प्रदायस्य च केन्द्रभूते श्री ब्रह्मतन्त्रपरकालमठाश्रमो वर्तते। अस्य मठस्य स्थापना चतुर्दशशताब्द्यां विशिष्टाद्वैतदर्शन-श्रीवैष्णवसम्प्रदायधर्मयोः प्रख्याताचार्यस्य कवितार्किकसिंहस्य भगवद्घण्टावतारस्य श्रीवेङ्कटनाथवेदान्तदेशिकस्य प्रियशिष्येण श्रीब्रह्मतन्त्रस्वामिनाऽकारि। अस्यैव सुप्रसिद्धस्य मठस्य त्रयस्त्रिंशत्तमः पीठाधीश्वरः श्रीलक्ष्मीहयग्रीवदिव्यपादुकासेवापरो विशिष्टाद्वैतदर्शनस्य साक्षादिव श्रीरामानुजः श्रीवैष्णवधर्मपरम्परासु निष्णातप्रज्ञः, सिद्धमन्त्रः श्रीमदभिनवरङ्गनाथ-परकालस्वामिपादो राराज्यते स्म। तत्र भवता श्रीलक्ष्मीहयग्रीवदिव्यपादुकाप्रपन्नेन श्रीमदभिनवरङ्गनाथपरकालस्वामिना स्वोत्तरप्रदेशयात्रां कुर्वता लखनऊनगरमागत्य तत्रोदीच्यान् छात्रान् विशिष्टाद्वैतदर्शनमध्यापनीयमिति स्वकीयोऽभिलाषो पूर्वमेव

प्रकटित आसीत्। एतां तदाकाङ्क्षां सफलीकर्तुमिव डॉ. कालियामहोदयस्तन्मठ-मासाद्य तप्तशङ्खचक्राङ्कनरूपां श्रीवैष्णवीं दीक्षां गृहीत्वा श्रीमदभिनवरङ्गनाथ-परकालस्वामिपादपङ्केरुहयोः सविधे श्रवणमनननिदिध्यासनरूपं श्रीरामानुजाचार्यपादैः प्रणीतं श्रीभाष्यं विशिष्टाद्वैतदर्शनरहस्यञ्चाऽधीतवान्। अब्दद्वयं यावच्छ्रीकालिया-महोदयस्तत्र श्रीस्वामिपादपङ्कजमकरन्दरसं निपीय १९६५ खिष्ट्राब्दे लखनऊनगरं प्रत्यावर्तत। एतदतिरिक्तं श्रीब्रह्मतन्त्रपरकालमठेऽनेके संस्कृतविद्वांस आचार्याः पाञ्चरात्रागमरहस्यबोद्धारश्चाऽऽसन्। प्रो. कालियामहोदयेन तत्र श्रीआत्मकुरू--दीक्षाचार्य, श्री के. एस. वरदाचार्य- श्री ई.एस. वरदाचार्य-प्रभृतिभ्यो विद्वद्भ्यो विशिष्टाद्वैताऽद्वैतन्यायव्याकरण-साहित्यालङ्कारमीमांसावेदोपनिषदां रहस्यं सम्यक्तयाऽलम्भि।

गीर्वाणवाणीवाङ्मये विशिष्टोपलब्धिमधिगम्य प्रो. कालियामहोदयो लक्ष्मणपुरमासाद्य पी-एच्.डी. उपाध्यर्थं शोधकार्यं चकार। स 'लक्ष्मीतन्त्र-धर्म तथा दर्शन' इति विषयमधिकृत्य स्वकीयं गहनं शोधकार्यं प्रस्तुतवान् । अस्य शोधप्रबन्धस्योपरि स १९६८ खिष्ट्राब्दे पी-एच्.डी. शोधोपाधिना विभूषितोऽभूत्। एतस्मिन्नेव वर्षेऽस्य विशिष्टां विद्याज्ञानसुमतिसमलङ्कृतां मेधां वीक्ष्याऽधिकारिभिर्लखनऊविश्वविद्यालयस्य संस्कृतप्राकृतभाषाविभागेऽ--स्थायिप्रवक्तृरूपेण श्रीकालियामहोदयस्य नियुक्तिर्व्यधायि। ततोऽस्मिन्नेव विश्वविद्यालयेऽध्यापनं कुर्वन् डॉ. कालियामहोदयः १९८४ खिस्ताब्द उपाचार्यपदवीं प्राप्तवान्। तत्पश्चात् तत्रभवान् १९९८ खिस्ताब्द आचार्य (प्रोफेसर) पदं विभूषितवान्। सितम्बरमासे २००० खिस्ताब्दे प्रो. कालियामहोदयः लखनऊ-विश्वविद्यालयस्य संस्कृतप्राकृतभाषाविभागेऽध्यक्षपदं बभार। ततः २००५ खिस्ताब्दस्य जूनमासस्य ७ तारिकां यावत्स संस्कृतविभागाध्यक्षपदमलङ्कुर्वन्नेव जूनमासस्य ८ तारिकायां २००५ खिस्ताब्दे वाराणसेय-सम्पूर्णानन्दसंस्कृत-विश्वविद्यालयस्य कुलपतिपदम्भूषयाञ्चकार। ततः प्रो. कालियामहोदयो वाराणस्यां कौलपत्यं सुष्ठु सम्पादयन् सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालये संस्कृतभाषायाः संस्कृतनिबद्धशास्त्रवाङ्मयस्य च श्रीवृद्धिं कुर्वन् कारयंश्च तत्समृद्धये नवीना

योजना उपपादयन् विश्वनाथ इव काशीमलञ्चकार। इदानीमस्य परिवारे साध्वी पत्नी श्रीमती सन्तोषलक्ष्मीकालियाऽशुंलप्रत्यूषाख्यौ द्वौ सुशीलौ पुत्रौ पायलाख्या च ज्येष्ठा पुत्रवधूः शोभन्तेतराम्।

प्रो. अशोककुमारकालियामहोदयः प्रारम्भत एव संस्कृतसेवापरो वर्तते। तत्रभवताऽवैतनिक-सेवामाध्यमेनाऽनेकसंस्थासु संस्कृतसेवाऽकारि। भारतवर्षे **सुप्रसिद्धाऽखिलभारतीयसंस्कृतपरिषद्**, लखनऊ-नगरे वर्तते। प्रायश्चत्वारिंशद्वर्षेभ्यः प्रो. कालियामहोदयोऽस्यां संस्थायां स्वकीयां सेवां प्रयच्छति। अस्याः संस्थायाः **अजस्रा** नाम्नी संस्कृतस्य त्रैमासिकीं पत्रिकां प्रो. कालियामहोदय एव सम्पादयति। अस्या अखिलभारतीयसंस्कृतपरिषदः प्रथममपरमन्त्रिपदं ततश्च मन्त्रिपदमिदानी ञ्चोपाध्यक्षपदं सोऽलङ्करुते। प्रो. कालियामहोदयो नैमिषारण्यस्थस्य **पौराणिक तथा वैदिक अध्ययन एवम् अनुसन्धान संस्था**नाभिधानस्य निदेशकपदे स्थित्वा स्वीयां समुत्कृष्टां सेवां प्रददाति। एवं प्रो. कालियामहोदयः सततं संस्कृतवाङ्मयस्य प्रचार-प्रसारसेवां विदधानः समुच्चपदवीङ्गतोऽपि नितरां विनयशीलोऽहङ्काररहितो नियमानुकूलकर्त्तव्यतापरायणो साक्षादिव नारायणो देववाणीसमुन्नायकः सहजप्रकृतिः सच्चरित्रश्चाऽवतिष्ठते।

प्रो. अशोककुमारकालियामहोदयस्य विशिष्टाद्वैतदर्शनेऽस्ति कश्चित् समर्पणभावः। श्रीवैष्णवधर्मे विशिष्टाद्वैतदर्शने-चाऽध्ययनमध्यापनञ्चाऽयं कुर्वन् सुदीर्घां सारस्वतसाधनामनुसन्धानधिया सम्प्रत्यपि विदधाति। **पुरुषोत्तमसंहितायाः सम्पादने परिशीलने** चाऽयं २००४ खिस्ताब्दे 'डी.लिट्' इत्युपाधिना समलङ्कृतो जातः। उत्तरभारते किलोच्चविद्याक्षेत्रे प्रो. कालिया निश्चप्रचमेवैकलो विद्वान् वर्तते येन श्रीवैष्णवपाञ्चरात्रागमस्य विशिष्टाद्वैतदर्शनस्य च जैत्रध्वजा दृढतयोच्चैर्व्यधायि। अयं महानुभाव उत्तरप्रदेशसंस्कृतसंस्थानतः संस्कृत-साहित्यपुरस्कारेणाथ चाऽनेकाभिः संस्थाभिश्च विविधपुरस्कारैः सह राष्ट्रपतिपुरस्कारेणाऽपि सम्मानितोऽभूत्।

प्रो. कालियामहोदयस्य कर्तृत्वम्

प्रो. अशोककुमारकालियामहोदयस्य यादृशं व्यक्तित्वं तादृशमेव कर्तृत्वं वरीवर्तते। अखिलभारतीयसंस्कृतपरिषदस्त्रैमासिकसंस्कृतपत्रिकाया **'अजस्रा'**ख्यायाः सुष्ठु सम्पादनं बहुवर्षेभ्योऽयं करोति। एतदतिरिक्तं लक्ष्मणपुर-विश्वविद्यालयस्य संस्कृतप्राकृतभाषाविभागतः प्राकाश्यमुपनीयमानाया **'वाङ्मयी**त्यभिधानाया वार्षिकशोधपत्रिकायाः प्रधानसम्पादकत्वमपि तत्रभवताऽधारि। प्रो. कालियामहोदयानां कौलपत्ये सम्पूर्णानन्दसंस्कृत-विश्वविद्यालये यानि प्रकाशनानि भवन्ति स्म तेषु सर्वेषु क्वचित्प्रधानसम्पादकरूपेण क्वचिच्च भूमिकालेखकत्वेन तत्रभवतो डॉ. कालियामहोदयस्याऽवदानं दरीदृश्यत एव। प्रो. कालियामहोदयस्य सप्तग्रन्थप्रसूनानि सम्प्रति प्रकाशितानि वर्तन्ते। एतेषां नामानि वर्ण्यविषयेण साकं समासेनाऽत्र प्रस्तूयन्ते-

१. लक्ष्मी तन्त्र-धर्म और दर्शन

ग्रन्थोऽयं प्रो. कालियामहोदयेन पी-एच्.डी. शोधोपाध्यर्थं शोधप्रबन्धत्वेन व्यलेखि। अस्मिन् हिन्दीभाषयाः पाञ्चरात्रतन्त्रागमरहस्यभूतस्य लक्ष्मीतन्त्रस्य धार्मिकं दार्शनिकञ्च विवेचनं सुष्ठु विहितम्। ग्रन्थस्याऽस्योत्कृष्टतां दृष्ट्वाऽखिलभारतीयसंस्कृतपरिषदा लखनऊतः प्रकाशनमेतस्य व्यधायि। विशिष्टाद्वैतदर्शनस्य पाञ्चरात्रागमस्य च ज्ञानायैषः परमोपयोगीग्रन्थोऽङ्गीक्रियते विपश्चिद्वर्यैः।

२. आचार्यपञ्चाशत्

श्रीवैष्णवाचार्येण वेङ्कटाध्वरिणा विरचितोऽयं ग्रन्थः पाण्डुलिपिरूपत्वेनाऽवतिष्ठते स्म। प्रो. कालियामहोदयेनैतस्य मातृका आसाद्य पाठालोचनपुरस्सरं सम्पादनं कृतम्। न केवलमेष ग्रन्थः समपादि तेनाऽपितु ग्रन्थस्याऽस्याऽऽङ्गल-भाषयाऽनुवादोऽपि विहितः। ग्रन्थोऽयं लखनऊस्थयाऽखिलभारतीयसंस्कृतपरिषदा प्राकाशि।

३. सुधाभोजनम्

सुधाभोजनं नृत्यनाटिकारूपत्वेन रचितमेकं रूपकमस्ति। अस्य कथावस्तु बौद्धजातकग्रन्थाद् ग्रहीतम्। शक्रस्य चतस्रः कन्या अत्र वर्णिता। एताः श्रीश्रद्धाऽऽशाह्रीनामधेयाः शक्रकन्यकाः सुधां लब्धुं महर्षेः कौशिकस्य पार्श्वे जग्मुः। एतासां गुणधर्मान् निरीक्ष्य कौशिकः सुधापानाय 'ह्री' नाम्नीं कन्यामेव वरयाञ्चकार, तस्यै चाऽमृतं प्रददौ-

सा त्वं मया साकमिहाऽऽश्रमे वरे।
आमन्त्रिता काञ्चनवेल्लिविग्रहे।।
पूज्याऽसि भद्रे मधुरै रसोत्तमै-
स्त्वां पूजयित्वैव सुधामहं लभे।।[1]

अत्र कालियामहोदयस्य कविहृदयत्वं प्रकाशितं भवति। यद्यपि सर्वाः कन्या गुणयुक्ता आसन्, केन कारणेन 'ह्री' नाम्नी कन्यैव सुधायै पात्रीकृता महर्षिणा। एतस्य चित्रणं नामानुसारं तत्रभवता कालियामहोदयेन विहितम् -

आढ्या नु मां श्रीः प्रतिभाति मातले।
श्रद्धा त्वनित्या शृणु देव सारथे।।
आशा विसंवादितया मता हि मे।
ह्रीरेव चाऽऽर्या प्रगुणे प्रतिष्ठिता।।[2]

प्रो. कालियामहोदयस्य रसोऽलङ्कारमाधुरी गीतेषु व्यज्यतेतराम् । सुधाभोजन एवैकस्मिन् गीते यन्माधुर्यं यच्चाऽलङ्कारप्रयोगजातं तेनाऽवर्णिषाताम्, तत्तु तत्रभवतः काव्यशास्त्रीयं ज्ञानं प्रामाण्यपदवीमवतारयति-

हंसशिञ्जिते लहरिवर्तने
कीचकतानसमीरे।

---

१. सुधाभोजने- २/३७

२. तत्रैव- २/३९

अलिकुलकलकलकलिते गीते
सङ्गीतकवति तीरे।
पुलकितजघनपुलिनबहुचपले
सरसे सरसि सुकूले
उरसिज सरसिजसज्जितसलिले
भ्रमरकुले ह्यनुकूले।।[1]

अत्र नादसौन्दर्यं सङ्गीतशास्त्रानुरूपमभिन्यस्तम्। निश्चयरूपेण एषः कविः कवितामाधुरीधुरीसंवाहक एव। डॉ. कालियामहोदयः श्रीवैष्णवसम्प्रदाये दीक्षितोऽत एव तद् हृदयं भगवता रङ्गनाथेनाऽनुरञ्जितं कवितास्वपि दरीदृश्यते। तत्र विशिष्टाद्वैतस्य चिदचिदीश्वररूपं तत्त्वत्रयमपि विलसतितराम् । सुधाभोजन-रूपकस्य नान्दीपाठोऽत्र द्रष्टव्यः-

धरति हृदि सदाम्बां यस्स्वशक्तिं नटीं तां
चिदचिदखिलनाट्यस्यादिमस्सूत्रधारः।
नटति सकललोको यस्य सङ्कल्पलेशाद्
विहरतु हृदि रङ्गे रङ्गनाथो यथेच्छम्।।[2]

अङ्कद्वयान्विते सुधाभोजने कविहृदयस्य प्रो. कालियामहोदयस्य कारयित्रीप्रतिभा सुतरां जरीजृम्भते। अस्य रूपकस्य प्रकाशनमपि लखनऊ-नगरस्थयाऽखिलभारतीयसंस्कृतपरिषदाऽकारि। रूपकस्याऽस्य मञ्चनं प्रसारणं चाऽभवल्लक्ष्मणपुरस्थाऽऽकाशवाणीतः। एतद् रूपकं लखनऊविश्वविद्यालयस्य संस्कृतस्नातककक्षायां पाठ्यक्रमरूपत्वेनापि बहुवर्षाणि यावदङ्गीकृतं तदध्ययनमण्डलसदस्यवर्यैः। सरलया संस्कृतभाषया रचितं गद्यपद्यान्वितं रूपकमेतदस्य कविवैदुष्यं विभूषयति।

४. तन्त्राधिकारि-निर्णयः

एष ग्रन्थो भट्टोजिदीक्षितेन व्यलेखि। प्रो. कालियामहोदयेनैतस्य ग्रन्थस्य

---

१. सुधाभोजन पूर्वाङ्के-गीतम्

२. सुधाभोजने- १/१

मातृकाः प्राप्य पाठालोचनपुरस्सरं विस्तृतभूमिकया च सार्द्धं ग्रन्थोऽयं समपादि। एतस्य प्रकाशनमप्यखिल-भारतीयसंस्कृतपरिषद्द्वारेण विहितम्। एतस्मिन् ग्रन्थे श्रीपाञ्चरात्रागमस्य सिद्धान्तानामाचाराणाञ्च खण्डनमुपलभ्यते।

५. प्रश्नोत्तरमणिरत्नमाला

एतल्लघु पुस्तकं भगवाञ्छङ्कराचार्यः प्रश्नोत्तरश्लोकत्वेन प्रणिनाय। एतस्य पुस्तकस्य सम्पादनं प्रो. कालियामहोदयेन विहितं विभिन्नमातृकाभ्यः सुष्ठु पाठं समालोच्य। अखिलभारतीयसंस्कृतपरिषदा लखनऊस्थया पुस्तकमेतत्प्राकाशि। वैराग्यविषयसमलङ्कृतमेतत्पुस्तकविषयवस्तु, यथा श्लोकेनैकेन द्रष्टुं शक्यम्-

अपारसंसारसमुद्रमध्ये
सम्मज्जतो मे शरणं किमस्ति?
गुरो! कृपालो! कृपया वदैतद्
विश्वेशपादाम्बुजदीर्घनौका।।[1]

६. पाञ्चरात्रपरिशीलन

पाञ्चरात्रपरिशीलन इत्याख्येऽस्मिन् ग्रन्थे पाञ्चरात्रागमसंहितासु वर्णितस्य पाञ्चरात्रविषयकधर्मदर्शनादितत्त्वस्य समालोचनात्मकं विवरणं हिन्दीभाषयाऽत्र समुपस्थापितं वर्तते। प्रो. कालियामहोदय एतद्ग्रन्थं लिखित्वा पाञ्चरात्रागमस्य विषयान् उत्तरभारते हिन्दीभाषामाध्यमेन प्रचारितवान्। 'न्यू भारतीय बुक कारपोरेशन' इत्याख्येन प्रकाशकेन दिल्लीतः प्रकाशितोऽयं ग्रन्थो विदुषां प्रशंसार्हतां लभते।

७. पुरुषोत्तमसंहिता

पाञ्चरात्रागमस्याऽनेकासु संहितास्वेका पुरुषोत्तमसंहिता वर्तते। अस्याः संहिताया एकैव मातृकाऽऽन्ध्रलिपौ प्राप्यते। अनया मातृकयाऽतिजीर्णतया पठितुमशक्ययाऽपि बहुपरिश्रमतया प्रो. कालियामहोदयेन पाठान् संशोध्यैषा

---
१. प्रश्नोत्तरमणिरत्नमालायां- श्लोकः-१

संहिता समपादि। 'भारतीय न्यू बुक कारपोरेशन' इत्याख्येन प्रकाशकेन दिल्लीतः प्रकाशितो ग्रन्थोऽयं पाञ्चरात्रागमसाहित्यस्य श्रीसंवर्धनं करोति। पुरुषोत्तमसंहितायाः सम्पादने परिशीलने च प्रो. कालियामहोदयो लखनऊ-विश्वविद्यालयस्य संस्कृतप्राकृतभाषाविभागतो डी.लिट्' इत्युपाधिनाऽलङ्कृतोऽभूत्।

एतदतिरिक्तं प्रो. कालियामहाभागस्याऽनेकानि शोधपत्राणि संस्कृत-कविताश्च विभिन्नपत्रपत्रिकासु समवलोक्यन्ते। इदानीमपि व्यस्तक्षणेषु तत्रभवतः कालियामहोदयस्य लेखनमध्यापनञ्च प्रचलति। व्याख्यानानि चैतस्यानेकाभिः संस्थाभिः समायोजितानि। सम्प्रति प्रो. कालियामहोदय उत्तरभारते विशिष्टा-द्वैतदर्शनस्य पाञ्चरात्रागमस्य चाऽप्रतिमो विद्वान् मन्यते विद्वद्वर्यैः। ईदृशस्य विदुषांवरेण्यस्य गुरुवर्यस्य प्रो. कालियामहाभागस्य चरणाम्बुजयोः पद्यप्रसूनसपर्यां समर्पयन्नहं स्वीयां लेखनीं धन्यामिव मन्वानो नितरां मोमुदीमि-

श्रीरामानुजदर्शनाम्बुधितरोऽद्वैते च पारङ्गतः।
मीमांसासुधियन्धयास्य सुधयाऽस्याप्लाविताः सद्धियः।।
येनाकारि च साङ्ख्यगौतमगिरा सार्द्धं सुकेलिर्मुदा।
वन्देऽहं तमशोककालियगुरुं श्रीकौलपत्यास्पदम्।।

कुमारिलमतेऽर्थापत्तिप्रमाणम्

डॉ. गायत्रीशुक्ला,
लालगञ्जम्, रायबरेली

अर्थस्यापत्तिः कल्पना यस्मात् तदर्थापत्तिः अर्थस्यापत्तिर्वा इति व्युत्पत्त्या सिद्धोऽर्थापत्तिरिति शब्दोऽर्थद्वयमावहति। अत्र प्रथमा व्युत्पत्तिः प्रमाणपरा द्वितीया च फलपरा। वस्तुतः प्रमितस्यार्थस्य अर्थान्तरेण विनाऽनुपपत्तिमालोच्य तस्योपपत्त्यर्थम् अर्थस्य यत् कल्पनं, सा अर्थापत्तिः यथोक्तं मानमेयोदये-

अन्यथानुपपत्त्या यदुपपादककल्पनम्।
तदर्थापत्तिरित्येवं लक्षणं भाष्यभाषितम् ।।[1]

शबरस्वामिनां मते पीनत्वादिना उपपाद्यस्यार्थस्य अन्यथोपपत्तिमूला या उपपादकस्य कल्पना भवति तदर्थापत्तिः। अत्र भाष्यकारेणोक्तम् 'दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यते इत्यर्थकल्पना'। अनेन वाक्यप्रमाणेन 'दृष्टः श्रुतो वा' इति वचनेन यदर्थकल्पना भवति सैवार्थापत्तिः प्रमाणम् इति भाष्ये कथितम्- एतद् भाट्टमीमांसकानां मतम् । वस्तुतो भाट्टमीमांसकैः अर्थापत्तेः द्वैविध्यं स्वीकृतम्। यथोक्तं श्लोकवार्तिके-

प्रमाणषट्कविज्ञातो यत्रार्थोऽन्यथा भवेत्।
अदृष्टं कल्पयेदन्यः सार्थापत्तिरुदाहृतः।[2]

अतएव कुमारिलमतेऽर्थापत्तिप्रमाणस्यापि द्वैविध्यं स्वीकृतम्; किंतु

---

१. मानमेयोदये, श्लोक-१२७

२. श्लोकवार्तिके अर्थापत्तिपरिच्छेदः, श्लोक-१

प्रभाकरमतेऽर्थापत्तिप्रमाणस्यैकविध्यमेव स्वीकृतम्। तेषां मते दृष्टार्थापत्तिरेव भवति; न तु श्रुतार्थापत्तिः। तेषां मते भाष्ये उक्तो 'दृष्टः श्रुतो वा' इत्यनेन वचनेन द्वैविध्यकथनं गोबलीवर्दन्यायेन उपलब्धिपरतया गमयितव्यम्।

अत्र योऽर्थो येन विना नोपपद्यते सोऽर्थः उपपाद्यः। यस्याभावे यस्यानुपपत्तिः स उपपादकः, यथा प्रमाणान्तरेण देवदत्तस्य जीवने निश्चिते सति गृहेऽनवस्थितस्य तस्य जीवतो बहिर्भावस्य कल्पनां विना जीवनम् अनुपपन्नं भवति। अतएव जीवनं बहिर्भावं यया कल्पयति साऽर्थापत्तिः। अत्रोपपाद्यं जीवनं करणम्। उपपादको बहिर्भावः तस्य फलम् । येन विना यद् अनुपपन्नं तज्जीवनम् उपपाद्यम्। अत्र च प्रमाणावगतो जीवनबहिर्भावयोः परस्परं प्रतिघातः करणम्। यतो हि गृहेऽवस्थितो देवदत्तो बहिर्वा इति केनचिद् प्रमाणेन ज्ञातम्, अन्येन प्रत्यक्षादिना प्रमाणेन गृहे नास्ति इति अवगतम् तदुभयसमुच्चितं परस्परप्रतिघाति प्रतीयते; सोऽयं प्रतिघातो बहिर्भावस्य कल्पनया समाधीयते। अतएव प्रमाणसिद्धयोर्द्वयोरर्थयोः परस्परं प्रतिघातो अर्थान्तरकल्पनया समाधेयत्वाद् अर्थापत्तेः कारणम् इति विचार्यमाणः। तत्समाधानार्थं च अर्थान्तरकल्पना भवति सैवार्थापत्तिः प्रमाणम् इति सिद्धम्।

अथवा यथा पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते इतिसाङ्ख्यशास्त्रोक्त उदाहरणे वर्णितं देवदत्तस्य पीनत्वम् अर्थान्तरकल्पनां विना असिद्धम्। यतोहि दिवा अभुञ्जाने सति पीनत्वमसम्भवम् अतः तस्य रात्रिभोजनमवकल्प्यते। वस्तुतो यस्य कल्पनीयस्य अर्थस्याभावे सत्युपपाद्यं नोपपद्यते; स कल्पनीयोऽथ उपपादकः। यथा अस्मिन्नेवोदाहरणे रात्रिभोजनम् उपपादको भवति। अत्र उपपाद्यज्ञानं करणत्वेन अर्थापत्तिः प्रमाणम्। उपपादकज्ञानञ्च अर्थापत्तेः फलम्। तदेव दिवावाक्यं न रात्रिवाक्यस्यानुमापकम्। एवं दिवादिपदार्थोऽपि नैव लिङ्गं सम्बन्धाभावात्। उक्तञ्च श्लोकवार्तिके-

पदार्थैरपि तद्वाक्यं नासम्बन्धात् प्रतीयते।।
सामान्यान्यथासिद्धेर्विशेषं गमयन्ति हि।।[1]

---

१. श्लोकवार्तिके श्लोकः ६०

यत्तु नैयायिका अस्या अर्थापत्तेः अनुमाने अन्तर्भावम् इच्छन्ति तदयुक्तम्; यतोहि अर्थापत्तौ अनुपपद्यमानस्य गम्यत्वम्, उपपादकस्य गमकत्वम् । अनुमितौ तु उपपादकस्यैव गम्यत्वम् अनुपपन्नस्य च गमकत्वम् । अतस्तयोरत्यन्तभेदः। अर्थापत्तिः अनुमानेनान्तर्भवति तत्रान्वयत्वाप्तिरग्रहणेन अन्वयिनि अन्तर्भावात् इति तात्पर्यम्। व्यतिरेकानुमानस्य पूर्वमेव निरस्तत्वात् नापि व्यतिरेकिणि व्याप्तिः सिध्यति। वस्तुतो यत्र यत्र धूमः तत्र तत्राग्निः इति व्याप्तिग्राहकप्रमाणेन अयमग्निः पर्वतेऽपि प्राप्तः। अथवा दृश्यमानो धूमः पर्वते स्वकारणमग्निमाक्षिपति। एवं विधिना व्याप्तिग्राहकप्रमाणेन धूमदर्शनेन पर्वते क्वचिदग्निरस्तीति ज्ञातम्। तस्य च ऊर्ध्वदेशे अनुपलम्भेन विरोधादधोदेशे अग्निः कल्प्यते इति अर्थापत्तिता आपत्तिर्भवति। अत इत्थं चापि अनुमीयतेऽत्र। देवदत्ते बहिरस्ति जीवित्वे सति गृहेऽसत्त्वाद् यो जीवनं यत्र नास्ति स ततोऽन्यत्रास्ति यथा 'अहम्' इति अतो व्यर्थमिदम् पञ्चमप्रमाणमिति इति नैयायिकमतमयुक्तम्।

तत्र यत्तेनोक्तं प्रमाणयोर्विरोधे सति परस्परविरुद्धज्ञानेष्वेकस्याऽप्रमाणत्वम्; तत्तु 'इदं रजतम्' 'नेदम् रजतम्' इत्यत्र सम्भवति; किंतु असाधारणप्रमाणयोर्विरोधेऽपि साधारणे प्रमाणेऽप्रामाण्यं न सिध्यति। यतः साधारणविषयस्य तु प्रामाण्यं विरोधेऽपि विषयान्तरे व्यवस्थितम्। यथा 'देवदत्तो गृहे बहिर्वा स्थितः, गृहे नावास्थितः' इति प्रमाणद्वयं चरितार्थम्; किंतु विरुद्ध- विषयत्वात् नानयोर्विरोधः। न च अप्रामाण्यम् 'इदं रजतम्' 'नेदम् रजतम्' इतिवत् सर्वथा विषयापहाराभावात्।[1]

यत्तु तार्किकैरुक्तम् अत्राविसन्दिग्धस्यैव देशविशेषस्य बाधो भवति न पुनर्जीवनं प्रमाणस्य तदयुक्तम्: यतोहि अनुमानेन देवदत्तस्य जीवनज्ञाने सति तस्य अवस्थितिज्ञानहेतवे देशसामान्यस्य सम्बन्धोऽपि ज्ञातव्यः। अत्र देशसामान्यं जातिरूपम् इति मते देवदत्तोऽपि देशरूपं भविष्यति। अतोऽनियतदेश एव देशसामान्यस्यार्थः। एवं सति असौ देवदत्तः 'क्वचिज्जीवति' इत्थं प्रकारेण जीवितपुरुषेण सह अनियतदेशसम्बन्धो ज्ञायते। उक्तञ्च मानमेयोदये-

---

१. मानमेयोदये, श्लोक-१३४-१३७

तस्माद् गृहे बहिर्वेति सन्दिग्धमपि कञ्चन।
विशेषमवलम्ब्यैव प्रमितं खलु जीवनम्।।[1]

अयमाशयोऽत्र देशसामान्येन गृहदेशो बहिर्देशो वा एतद्देशद्वयं गृहीतम्। अतो 'देवदत्तो गृहे बहिर्वा जीवति' इत्थं सन्दिग्धदेशः कस्यचिद् विशेषदेशेन सम्बद्धेन जीवनेन सह पर्यवसितः। तत्र गृहरूपविशेषदेशस्य अनुपलब्ध्या बाधिते सति बर्हिदेशरूपस्याऽन्यस्य गृहीतत्वात् पूर्वस्य निराश्रितजीवनप्रमाणस्य बाधोऽनिवार्यः। एवं बहिर्देशसम्बन्धेन पूर्वगृहाभावज्ञानविषयकसूक्ष्मस्य प्रतिरोधस्याज्ञातत्वात्, एवं तार्किका वदन्तिः यदत्र सन्दिग्धदेशस्यैव बाधो भवति न जीवनप्रमाणस्य।

तार्किकैर्यदुक्तं तथा सति 'पर्वतो बह्निमान्' इत्यादीनि प्रसिद्धानुमानान्यप्यर्थापत्तितामापद्यन्ते तदप्ययुक्तम्। यतोहि तत्र पर्वतेऽग्निप्रापकं साधारणं प्रमाणं किं नाम इति वक्तव्यम्। व्याप्तिग्राहकप्रमाणमेव 'पर्वतेऽग्निप्रापकम्' इति तर्कन्तु प्रभाकरमतखण्डनेनैव खण्डितं जातम्। यतोहि यद्यपि व्याप्तिग्रहणवेलायामेव पर्वतेन सह अग्निसम्बन्धज्ञानं भवति तथापि यः कश्चित् पुमान् अधुना महानस एव व्याप्तिं गृह्यमाणोऽदृष्टपर्वतः सः कथं पूर्वमेव तस्याग्निमत्त्वमवगच्छेत्। अत्र पर्वते दृश्यमानो धूमः स्वकारणीभूतमग्निम् आक्षेपयति इति तर्कमयुक्तम्। 'धूमोऽग्निमनुमापयतु' इत्थमेवात्र वक्तव्यम्। अतः सिद्धः पर्वतेऽग्नेरनुमापकोऽनुमानं साधारणप्रमाणम् अस्ति। अतोऽनुमानस्य अर्थापत्तौ समावेशोऽसम्भवः। पर्वतस्योर्ध्वभागे अग्नेर्बाधिते सति तस्याधोभागे (पर्वतमूले) अग्निकल्पना तु अर्थापत्तिरेव। तदेवं दिवावाक्यं न रात्रिवाक्यस्यानुमापकम्।

यत्पुनः देवदत्तस्य बहिर्भावसिद्ध्यर्थं- 'देवदत्तो बहिरस्ति जीवित्वे सति गृहाभावात्' इत्यनुमानं कल्पितम् तत्तु स्वरूपासिद्धो हेत्वाभासः न पुनरनुमापको सद्हेतुः। तस्य जीवनमात्रनिर्विशेषस्य निरूपयितुमशक्यत्वात्। यतोहि देशविशेषस्य निरूपणेन विना निर्विशेषस्य जीवनमात्रस्य निरूपणमसम्भवम्। अतो जीवनविशिष्ट-गृहाभावरूपस्य लिङ्गस्याप्रतिपत्तेः स्वरूपाज्ञानासिद्धोऽयं हेतुः। यथोक्तं बृहट्टीकायाम्-

---

१. मानमेयोदये, श्लोकः-१३७

तस्माद्यो विद्यमानस्य गृहाभावोऽप्यगम्यते।
स हेतुः स बहिर्भावं नागृहीत्वा च गृह्यते।।

'देवदत्तो बहिरस्ति गृहाभावात्', इत्यनुमानवाक्ये गृहाभावरूपस्य हेतोर्ज्ञानं तदेव स्यात् यद्धि बर्हिभावत्वं पूर्वं ज्ञातम्; अन्यथा देवदत्तः कुतो नास्ति मृतो वा इति ज्ञाते अभावमात्रमेव उक्तम्; न तु गृहाभावत्वम्। अतः सिद्ध्यते यदर्थापत्तिः अनुमानात् पृथगेव प्रमाणम्।

यत्तु तार्किकाणां निरासप्रसङ्गे प्रभाकरैः कथितम्; तत्तु उपहसनीयम्। अर्थात् 'देवदत्तो बहिर्देशसंयोगी गृहाभावे सति विद्यमानत्वात्' इत्यस्य निराकरणे तेनोक्तम् यदत्र जीवनं संशयग्रस्तम्। यतोहि देवदत्तः पुरा प्रायः वेश्यवर्ती स्यात् किंतु इदानीमदृष्टत्वात् तस्य जीवनं सन्दिग्धम्। तत्र सन्दिग्धं जीवनन्तु एतद्बहिर्भावस्य अनुमापकं नास्ति; किन्तु आक्षेपक एव सम्भवति[1]। यतोहि सन्दिग्धपदार्थोऽपि उपपादकस्य कल्पको भवति; अर्थापत्तेर्महिम्ना सन्दिग्धे जीवने सति पूर्वोक्ताऽनुमानस्य गृहाभावरूपहेतुसन्दिग्धविशेषणको भवति, अतोऽर्थापत्तिः अनुमानेन गम्यार्था न भवति। अत्र यदि गृहाभावनिरीक्षणाज्जीवनं सन्दिग्धमस्ति तर्हि आप्तवाक्यादिना तन्निर्णयः कार्यः। अथवा तस्य पत्न्याः वैवाहिकचिह्नसन्दर्शनेन निर्णयः कार्यः। यदि तस्य मरणस्य सूचकं चिह्नं न परिज्ञातं तर्हि तस्य जीवने सन्देहः किं भविष्यति। तथा सन्दिग्धजीवनाद् बहिर्भावस्य कल्पना अशक्या; यतोहि देवदत्तस्य मृतत्वस्यापि शङ्कायां 'देवदत्तो बहिरस्ति' इति ज्ञानं कथं स्यात्। 'यस्माज्जीवति वा न वा तस्माद्बहिरस्ति' एतादृशी कल्पना गुरुणा विना केनापि न क्रियेत। निष्कर्षोऽयं न सन्दिग्धपदार्थोऽर्थापत्तेर्हेतुत्वं गम्यते।

अस्यार्थापत्तेरुपमानगम्यत्वमपि न सम्भवम्; यतोहि सर्वत्र सादृश्यं श्रुतवाक्येनैव भवति नाश्रुतस्य। अतएवात्र दिवावाक्यवत् तदर्थो नोपमानमिति। वस्तुतोऽर्थापत्तिरेव रात्रौ भुङ्क्ते इत्यत्र प्रमाणम्। यथोक्तं श्लोकवार्तिके-

---

१. नन्वेतद् गृहाभाव दर्शनाज्जीवतो बहिर्भावकल्पनाऽनुमानमेव देवदत्तो बर्हिदेशसंयोगी, गृहाभावे सति विद्यमानत्वात्। अत्रोच्यते न तावद् विद्यमानत्वं लिङ्गं भवति स्वयं सन्देहास्यपदीभूतत्वात्। ..... नास्तिविरोधः। (पृ. २७३-२७६)

अतः श्रुतस्य वाक्यस्य यदर्थप्रतिपादनम्।
तदात्मलाभ एव स्याद् विना नेतयेतदिष्यते।।[1]

अत्र पीनत्वस्य भोजनप्रतिषेधयोश्च एक वाक्यत्वानुपपत्त्या तदुपपादनाय तच्छेषत्वेन रात्रिवाक्यं कल्प्यते। अर्थकल्पनावादिमतेऽत्र रात्रिभोजनवाक्यं पीनत्वस्योपपादकं नास्ति किं रात्रिभोजनमेव; अतः किं शब्दकल्पनया। अत्रेदं तर्कमनुचितं यद् विश्वजिदादिषु यागेषु फलादेः शाब्दत्वसिद्ध्यर्थं शब्दकल्पनम्। अत उक्तम् - **वाक्यार्थाच्च किं नायमागमार्थः प्रतीयते[2]**।

यथा शब्दाभिहितपदार्थगम्योऽपि वाक्यार्थः शब्दमूलस्तथा शाब्दः तथा वाक्यार्थानुपपत्तिगम्योऽर्थो वाक्यमूलतया शाब्दो भविष्यति। अत्र सविकल्पकविज्ञानैः शब्दः पूर्वं प्रतीयते। ततश्च प्रथमावगतेन शब्देनैव अनुपपत्तिपरिक्षयात् नार्थं यावदर्थापत्तिर्गन्तुमर्हति।

अत्रेदं तर्कमप्यनुचितं-यद् वाक्यार्थवद् आगमार्थत्वम् इति उच्यते। यतोहि लब्धप्रयोजने वाक्ये परं नागमिकमिति मीमांसकमतम्[3]। अयमाशयोऽत्र यावद्धि अकृतार्थं वाक्यं यत् कल्प्यते तत् सर्वं शाब्दं भवति पदार्थानां चावगतत्वेनाप्रयोजनत्वाद् तेष्वकृतार्थं वाक्यं तत्तद्द्वारा अप्रतिपन्नवाक्यार्थव्यवसायी इति युक्तं वाक्यार्थस्य आगमार्थत्वम्। ततः परन्तु पदार्थान्तरं ततः प्रागेव वाक्यस्य कृतार्थत्वात् न तस्यागमार्थत्वम्। अत्राकृतार्थत्वं शब्दे एव कल्पनीयः; यतोहि अन्येन वाक्य-स्याकाङ्क्षापूरणं न सम्भवति।

कथमसति सम्बन्धे प्रामाण्यमिति चेत् तर्हि परिहारोऽयं बाधाविरहः प्रामाण्ये कारणं न सम्बन्धः। अत उक्तम् कुमारिलेन श्लोकवार्तिके-

तस्मादसत्त्वे सत्त्वे वा सम्बन्धस्य यदेव नः।
जायेतामभङ्गुरं ज्ञानं तस्यैव स्यात् प्रमाणता।।[4]

---

१. श्लोकवार्तिके अर्थापत्तिपरि. श्लोक-७६

२. तत्रैव, श्लोक-७७

३. तत्रैव, श्लोक-७८

४. तत्रैव, श्लोक-८४

एवमर्थापत्तेः प्रामाण्यं निर्विवादरूपेण सिद्धम्। अनुमानात्तु भेदाभेदयोर्विवादः; तच्च पूर्वमेव निराकृतम्। अनुमानेऽपि बुद्ध्योपपाद एव सम्बन्धोपयोगः न प्रामाण्ये, अतः तच्चोत्पन्नायाः बुद्धेः स्वारसिकत्वमेव न तस्य प्रामाण्ये हेतुत्वम्। यथोक्तम्-

स्मृत्या श्रुतेर्या परिकल्प्यतेऽस्मिन् लिङ्गादिभिर्या विनियोजिका च।
तत् सर्वमित्याद्यसमञ्जसस्यान्न चेदियं स्यादनुमानतोऽन्या।।[१]

अर्थापत्तिरियं दृष्टार्थभेदेन द्विधा भवति। पूर्वोक्तानि उदाहरणानि दृष्टार्थापत्त्यैव। श्रुतार्थापत्तेरुदाहरणं यथा लोके 'द्वारम्' इत्युक्तौ तस्य सम्पूर्णतासिद्धये 'संव्रियताम्' इत्यादि शब्दान्तरं श्रुतशब्दस्यैकदेशत्वेन कल्प्यते। अतोऽत्र शब्दैकदेशसंवाद-स्यैकदेशत्वेन कल्पना भवति। एवं वेदेऽपि 'विश्वजिता यजेत' इत्यादौ स्वर्गकामः इति श्रुतेः एकदेशभूतवाक्यत्वेन शब्दान्तरं कल्प्यम्। एतत् सर्वं श्रुतार्थापत्त्या एव सम्भवति।

वस्तुतोऽत्र अपरिपूर्णस्य वाक्यस्यान्वयसिद्धये शब्दस्य अध्याहृतत्वात् **श्रुतार्थापत्तिर्भवति**[२] यथा 'द्वारम् द्वारम्' इति वाक्यस्यान्वयार्थं शब्दान्तरगम्यस्य आवरणादिरूपस्य अन्यस्यार्थस्य उपस्थितिरनिवार्या। तस्य श्रुतशब्दस्य अनुपलब्धेन बाधे सति अश्रुतशब्दगम्यत्वेन आवरणाद्यर्थः कल्पनीयः इति तात्पर्यम्। तत्र च शब्देन सहैव आवरणाद्यर्थकल्पनोद्युक्तः शब्दादेवार्थावगतेः लाघवतः शब्दमेव कल्पयति। इयमेव शब्दकल्पनारूपा श्रुतार्थापत्तिः।

यत्तु प्रभाकरैरुक्तं यदत्र आवरणाद्यर्थस्यैव कल्प्यतया शब्दाकल्पनाभावात् न श्रुतार्थापत्तिः; तदयुक्तम्। यतोहि शब्दोपस्थापितस्यार्थस्य शाब्देनार्थेन सहैव अन्वयं भवति; एतत् पूर्वमेव सिद्धम्। यदि च वाक्यपूरणार्थं अर्थ एव कल्प्यते तर्हि 'सूर्याय जुष्टं निर्वपामि' इत्यादौ सूर्यरूपोऽर्थ एव कल्पनीयः; न तु सूर्याय इति पदकल्पनमुचितम्। प्रकृतियागे पदार्पित एवायमंशो दृष्टः; अतएव विकृतावपि पदं कल्प्यम् इति चेदिदमप्युक्तम्। यतोहि नहि दृष्टमात्रेण विकृतावपि धर्मा

---

१. अर्थापत्तिपरि, श्लोक-८७

२. यत्रत्वपरिपूर्णस्य वाक्यस्यान्वयसिद्धये। शब्दोऽध्याहृियते तत्र श्रुतार्थापत्तिरिष्यते। (मानमेयोदये श्लोक-१५२)

आकृष्यन्ते; किंतु प्रयोजनाय एव। न तु तस्यांशस्य पदबोधितत्वेन भवतः किञ्चित् प्रयोजनमस्ति। यतोहि अन्वयोऽन्यथापि सिध्यति; अतो दृष्टत्वमात्रग्रहणे च अवघातगतमेव संस्कारान्तरं दृष्टम् इति अवघातोऽपि कृष्णलेषु कर्तव्यः स्यात्। तस्मात् श्रुतार्थापत्त्यैव पदाध्याहारः सम्भवति।

अतो निष्कर्षरूपेण वक्तुमिदं शक्यते यद् अर्थस्य अन्वयानुपपत्त्या वाक्ये यदुपपादकस्य कल्पना भवति सैवार्थापत्तिः। स च अनुमानादिभिर्भिन्ना प्रमाणरूपा। अस्यार्थापत्तेरनुमानेऽन्तर्भावो न सम्भवति। इयमर्थापत्तिर्दृष्टश्रुतभेदेन द्विधा भवति। कुमारिलमतेऽर्थापत्ते-र्द्वैविध्यमेवोचितम्। अत एतेन प्रभाकरमतं खण्डितम्; नैयायिकमतमप्यपास्तम्। श्रुतार्थापत्तौ पदकल्पना भवति, दृष्टार्थापत्तौ च वाक्यकल्पनम् एतत्सर्वमत्र विस्तरेण निरूपितम्। अतः श्रुतार्थापत्तिः शब्दकल्पनापरा दृष्टार्थापत्तिर्वाक्य-कल्पनापरा इति कुमारिलमतम्।

धर्मशास्त्रवाङ्मये दुर्गविधानम्

डॉ. जी. शङ्करनारायणः

एनात्तूर्, काञ्चीपुरम्

सप्ताङ्गं राज्यमिति राजनैतिकग्रन्था मुक्तकण्ठमामनन्ति। स्मृतयः, अर्थशास्त्रम्, धनुर्वेदः, पुराणेषु विद्यमानाः राजनैतिकांशाश्चात्र राजनैतिकग्रन्थशब्देन व्यवहृताः। ते च राज्यशासनाय अपेक्षितानि सप्ताङ्गानि विवृण्वन्ति यथा विष्णुस्मृतौ-

स्वाम्यमात्यदुर्गकोशदण्डराष्ट्रमित्राणि प्रकृतयः।।[1]

तथा च महाभारतप्रभृतयोऽपि ग्रन्था एवमेव अभिप्रायं प्रकटयन्ति। दिङ्मात्रं यथा महाभारतम्-

राज्ञा सप्तैव रक्ष्याणि तानि चापि निबोध मे।

आत्माऽमात्यश्च कोशश्च दण्डो मित्राणि चैव हि।।[2]

कौटलीयमर्थशास्त्रमपि राज्यसप्ताङ्गत्वेनैवमेवाऽभिव्यनक्ति-

स्वाम्यमात्यजनपददुर्गकोशदण्डमित्राणि प्रकृतयः।।[3]

तेषां कार्यवैशिष्ट्यं तत्रैव निरूपितं यथा- सप्तस्वपि च राज्याङ्गेषु अन्यतममङ्गं भवति दुर्गम्। राज्ञा अवश्यं रक्षणीयेषु विषयेषु दुर्गस्य प्राधान्यं

---

१. विष्णुस्मृतौ ३/३३

२. महाभारते २/५/१३

३. कौटलीयार्थशास्त्रे ६/२

विदितचरमेव। अद्यापि परोक्षरूपेण गिरिदुर्गस्य धन्विदुर्गस्य तथा वनदुर्गस्य उपयोगः अक्षिगोचरः। तदुक्तं वृद्धहारीतेन-

दुर्गाणि तत्र कुर्वीत जनकोशात्मगुप्तये।[1]

आपस्तम्बप्रभृतयः स्मृतिकाराः दुर्गलक्षणानि वितेनुः। महाभारते रामायणे च दुर्गस्य स्वरूपं प्राधान्यञ्च प्रदर्शितम्। कौटलीयमर्थशास्त्रं द्वितीयाधिकरणे दुर्गनिर्माणं सविस्तरं निरूपयति। अतो दुर्गविधानस्य प्राधान्यं सम्यगवगम्यते।

वृद्धहारीतस्मृतिः

जनकोशात्मगुप्त्यर्थे रम्ये देशे दुर्गनिर्माणं तत्राध्यक्षस्थापनं च कर्त्तव्यमिति वृद्धहारीतेनैवं निरूपितं-

उपजीव्योपसर्पैश्च रम्ये देशे नृपोत्तमः।
दुर्गाणि तत्र कुर्वीत जनकोशात्मगुप्तये।।
तत्र कर्मसु निष्णातान्कुशलान् धर्मनिष्ठितान्।
सत्यशौचयुताञ्छुद्धानध्यक्षान् स्थापयेन्नृपः।।[2]

आपस्तम्बस्मृतिः

इयञ्च स्मृतिः गृह्यसूत्रकर्त्रा आपस्तम्बेन प्रपञ्चितेति ज्ञायते। अस्यामपि स्मृतौ पुरवेश्मप्रभृतीनां निर्माणप्रकार उक्तः। तत्र दक्षिणाद्द्वारेण पुरं कर्तव्यमिति स्मृतिरियं कथयति। पुरवेश्मामन्त्रणसभानिर्माणम्, तत्राग्निस्थापना, आमन्त्रणमतिथिर्वा-

सार्थम्, सभा अधिदेवनार्थं दक्षिणाद्द्वारं वेश्म पुरं च मापयेत् ।।
दक्षिणेन पुरं सभा दक्षिणोदग्द्वारा यथोभयं सन्दृश्येत बहिरन्तरञ्चेति।।
आवसथे श्रौत्रिया वराघ्यानतिथीन् वासयेत्।।
तेषां यथागुणमावसथाः शय्याऽन्नपानं विधेयम्।।[3]

---

१. वृद्धहारीतस्मृतौ ७/२३३

२. तदेव, ७/२३३-२३४

३. आपस्तम्बस्मृतौ, २/२४/२-५

सभाया मध्येऽधिदेवनमुद्धत्यावोक्ष्याक्षान्निवपेद्युग्मान् वैभीतकान् यथार्थान् ।।

आर्याः शुचयः सत्यशीला दीवितारः स्युः।।

एवमियं स्मृतिः पुरसभानां निर्माणं तन्निवेश्यांश्च कथयति।

विष्णुस्मृतिः

इयमपि स्मृतिः दुर्गाणां बाहुविध्यं सूचयति। यथा-

वैश्यशूद्रप्रायेऽर्थसम्पन्ने देशे षड्विधदुर्गान्यतमोदुर्ग आश्रयणीयो राज्ञा

राजा च जङ्गलं पशव्यं सस्योपेतं देशमाश्रयेत् ।।

वैश्यशूद्रप्रायं च।।

तत्रधन्वनृमहीवारिवृक्षगिरिदुर्गणामन्यतमं दुर्गमाश्रयेत् ।।[1]

महीदुर्गं मह्याम् इष्टकापाषाणादिनिर्मितं दुर्गम्। मह्याम् उच्चावचप्रदेश-प्रचुरमिति केचित् कथयन्ति। एवं दुर्गाणां षट्प्रकाराः अस्यां स्मृतौ निरूपिताः।

मनुस्मृतिः

सर्वैः समादृता इयं स्मृतिः प्रायशः सर्वैरनुष्ठीयते। लोकसृष्टिप्रभृतयः सर्वेऽपि प्रकाराः अस्यां निरूपिताः। राजधर्मनिरूपणावसरे दुर्गनिर्माणमपि निरूपितम्। यथा-

जाङ्गलं सस्यसम्पन्नमार्यप्रायमनाविलम् ।
रम्यमानतसामन्तं स्वजीव्यं देशमावसेत्।।
धन्वदुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा।
नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम् ।।[2]

एवं षड्विधदुर्गाणि निरूप्य तत्र गिरिदुर्गस्य प्राधान्यमपि मनुना प्रोक्तं यथा-

---

१. विष्णुस्मृतौ ३/६, राकौ. २२७ (वृक्ष.)

२. मनुस्मृतौ. ७/६५

सर्वेण तु प्रयत्नेन गिरिदुर्गं समाश्रयेत् ।
एषां हि बाहुगुण्येन गिरिदुर्गं विशिष्यते।।
त्रीण्याद्यान्याश्रितास्त्वेषामृगार्ताश्रयाप्सराः।

अन्येषामपि दुर्गाणां स्वरूपमपि तत्रैव निरूपितं यथा-

त्रीण्युत्तराणि क्रमशः प्लवङ्गमनरामराः।।
यथा दुर्गाश्रितानेतान्नोपहिंसन्ति शत्रवः।
तथाऽरयो न हिंसन्ति नृपं दुर्गसमाश्रितम् ।।
एकः शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः।
शतं दशसहस्राणि तस्माद्दुर्गं विधीयते।।
मन्दरस्यापि शिखरं निर्मानुष्यं न शिष्यते।
मनुष्यदुर्गं दुर्गाणां मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्।।
तत्स्यादायुधसम्पन्नं धनधान्येन वाहनैः।
ब्राह्मणैः शिल्पिभिर्यन्त्रैर्यवसेनोदकेन च।।[1]
तस्य मध्ये सुपर्याप्तं कारयेद् गृहमात्मनः।
गुप्तं सर्वर्तुकं शुभ्रं जलवृक्षसमन्वितम् ।।[2]

एवं मनुस्मृतिर्दुर्गाणां भेदान् निरूप्य तन्माहात्म्यमपि निगदति। तत्र मनुष्यदुर्गं मनुना प्रथमतया उद्भावितमिति स्मृतिरियं कथयति।

याज्ञवल्क्यस्मृतिः

इयं स्मृतिः व्यवहारादिषु प्रमाणप्रदा भवति। अस्यां राजधर्मनिरूपणावसरे दुर्गस्य निर्माणे चोदनैव दृश्यते।

रम्यं पशव्यमाजीव्यं जाङ्गलं देशमावसेत् ।
तत्र दुर्गाणि कुर्वीत जनकोशात्मगुप्तये।।[3]

---

१. मनुस्मृतौ ७/७०-७५

२. तदेव ७/७६

३. यज्ञवल्क्यस्मृतौ १/३२१

इति सामान्यतया दुर्गाणां निर्माणे आवश्यकतां कथयतीयं स्मृतिः।

बृहस्पतिस्मृतिः

इयं स्मृतिः ईषद्विशदतया दुर्गस्य निर्माणं निरूपयति। प्रथमं दुर्गस्य आवश्यकतां निरूप्य ततश्च दुर्गाणां भेदान् कथयति। तत्र आयुधानां स्थापनं तन्निर्माणे उपयोक्तव्यान् जनानिति सर्वं निगदतीयं स्मृतिः। दुर्गाणां परितः शालाट्टपरिखादीनां निर्माणप्रकारोऽपि अस्यां स्मृतौ निरूपितः।

आत्मदारार्थलोकानां सञ्चितानां च गुप्तये।
नृपतिः कारयेद्दुर्गं प्राकारद्वासंयुतम् ।।[1]
औदकं पार्वतं वार्क्ष्यमैरणं धान्वनं तथा।।[2]
भूतानामिन्धनरसैर्वैत्रशष्पान्नवाहनैः ।
यन्त्रायुधैश्च विविधैः स्निग्धैः शूरैर्नरैर्युतम्।।
वेदविद्याविदो विप्रान् क्षत्रियानग्निहोत्रिणः।
आहृत्य स्थापयेत्तत्र तेषां वृत्तिं प्रकल्पयेत्।।
अनाच्छेद्याः करास्तेभ्यः प्रदद्याद् गृहभूमयः।
मुक्ता भाव्याश्च नृपतिर्लोकयित्वा स्वशासने।।
नित्यं नैमित्तिकं काम्यं शान्तिकं पौष्टिकं सदा।
पौराणां कर्म कुर्युस्ते सन्दिग्धे विनयं तथा।
समा निम्नोन्नता वाऽपि यत्र भूमिर्यथाविधा।
शालाट्टपरिखाद्याश्च कर्तव्याश्च तथाविधाः।।
समन्तात्तत्र वेश्मानि कुर्युः प्रकृतयस्ततः।
द्विजवैद्यवणिक्शिल्पिकारुकाः रक्षकास्तथा।
स्थलावस्थाननिष्काशभ्रमश्वभ्रचतुष्पथान्।
समाजविक्रयस्थानगोव्रजांश्चैव कल्पयेत्।।

---

१. बृहस्पतिस्मृतौ. ४०, १०२
२. तदेव. १०२

दुर्गमध्ये गृहं कुर्याज्जलवृक्षान्वितं पृथक्।
प्राग्दिशि प्राङ्मुखीं तस्य लक्षण्यां कल्पयेत्सभाम्।।
माल्यधूपासनोपेतां वीररत्नसमन्वितताम् ।
प्रतिमालेख्यदेवैस्तु युक्तामग्नयम्बुना तथा।।[1]

बृहत्पराशरस्मृतिः

इयं स्मृतिः केवलं दुर्गाणां निर्माणं तस्यापि रक्षणं कर्तव्यमिति कथयति। यथा-

यथोदितानि दुर्गाणि कुर्यात्तेष्वपि रक्षणम्।।[2]

आश्वलायनस्मृतिः

इयं स्मृतिः षड्विधानां दुर्गाणां नामानि उल्लिख्य ततश्च बुद्ध्यैव इमानि निर्मापितव्यानीति निगदति। पुनश्च तत्र भवितव्यान् जनान् अधिकारिणः अनुजीविनश्च कथयति।

पुरं सुदुर्गमाश्रित्य वसेत्सुप्रयतो नृपः।।
धन्वदुर्गमपां दुर्गं गिरिदुर्गं च वा नृपः।।
वनदुर्गं नृदुर्गं च महीदुर्गं च वा वसेत् ।
नरदुर्गं विशिष्टं स्याद्धन्वदुर्गमथापि वा।।[3]
षण्णां तु बुद्धिदुर्गेण युक्तं चेदावसेत्पुरम् ।
आचार्यानृत्विजो वैद्यान् याचकान्नटनर्तकान्।।
सूतमागधसूदांश्च सम्पूज्याऽऽत्मनि वासयेत्।
पक्षिणो विविधाकाराः पुण्याः पश्वरगाः शुभाः।।
गोगजाश्वाजमहिषरासभोष्ट्राविकादयः ।
श्वमार्जारकपिप्राज्ञचिकित्सककुलालकाः।।

---

१. बृहस्पतिस्मृतौ ४१-४३
२. तदेव. १२/१४
३. आश्वलायनस्मृतौ ८/१०९-११६

कर्मारः स्वर्णकारश्च चर्मकारकृषीवलाः।
सूचीकाराश्च रजकाः सर्ववर्णाश्च शिल्पिनः।।
वैतालिका बन्दिनश्च रसा धान्याविषाशुनाः।
तिलतैलतुषाङ्गारयन्त्रादर्शयुधानि च ।।
औषधानि च सर्वाणि काष्ठापाता रथादयः।
यौधाः कुब्जा वामनाश्च स्त्रियश्चाप्सरसोपमाः।।
एतान्सर्वान्पुरो राजा सद्यः सम्यक्परीक्षितान्।
आत्ममधिष्ठिते नित्यं संस्थाप्य परिपालयेत्।।
पुरराज्याद्विनिर्गच्छन् तावतैः सहयाखिलैः।
मृगयायामृते प्रायो गच्छेदेव नृपोत्तमः।।[1]
पृथिव्यां यानि यानीह सन्ति वस्तूनि भूपतिः।
तानि सर्वाणि यत्नेन स्वपुरे स्थापयेत्सदा।।[2]

एवं धर्मशास्त्रग्रन्थेषु दुर्गाणां तद्युक्तपुराणाञ्च निर्माणप्रकारा निरूपिताः। एषु आश्वलायनस्मृतिरेव सर्वतोऽप्यधिकतया दुर्गविधानं कथयति। धर्मशास्त्रग्रन्थाः षड्विधानपि दुर्गान्निगदन्ति।

इमे ग्रन्था विशिष्य षड्विधदुर्गाणि कथयन्ति। तानि च धन्वदुर्गम्, नरदुर्गम्, महीदुर्गम्, वारिदुर्गम्, वृक्षदुर्गम्, गिरिदुर्गञ्चेति निगदितानि। एतेषु गिरिदुर्गस्य प्राधान्यं सर्वैरङ्गीकृतम्। वस्तुतो दुर्गाणां निर्माणं तावत् राज्ञां राष्ट्रस्य च रक्षणायेवेति सामान्यविचारेणैवावगन्तुं शक्यते। किन्तु तत्र तत्तद्देशोचिततया, कालोचिततया च दुर्गाणां निर्माणं भवितव्यम्। अतएव इदानीन्तनकाले दुर्गनिर्माणं नास्ति अथापि हिमालयप्रभृतिपर्वताः, समुद्राश्च परोक्षरूपेण दुर्गस्य कर्म कुर्वन्ति। अतः तदानीमुक्ताः नियमाः इदानीमपि सङ्गच्छन्ते। धर्मशास्त्रीयग्रन्थेष्वेतेषु वर्णिता दुर्गस्य निर्माणप्रक्रियाः तेषामुपयोगश्च नितरामाश्चर्यदायकाः विषयाः।

---

१. आश्वलायनस्मृतौ ८/४०-४३

२. आश्वलायनस्मृतौ ८/१२५

नदीपरिवेष्टनसरोयुक्तपङ्किलायाञ्च भूमौ कृतानि दुर्गाणि तत्तद्देशस्य आनुकूल्येन क्रियन्त इति घोषयन्ति ज्ञानस्यैव दर्पणभूताः इमे ग्रन्थाः।

एषु च इदानीं भारते अवशिष्टानि दुर्गाणि दुर्गनिर्माणप्रक्रियायाः निदर्शनभूतानि सन्ति। एषु च दुर्गेषु शास्त्रोक्तदिशैव देशानुसारिणी दुर्गनिर्माणप्रक्रिया प्रविहितेति सम्यगवगम्यते। पर्वतप्रान्तेषु पार्वतम्, तथा समायां भूमौ महीदुर्गमिति इदानीमपि समुपलभ्यानि दुर्गाणि अस्माकं पूर्वजानां वैदग्ध्यं विशदयन्ति।

अतः सर्वत्रापि शास्त्रानुसारिणोऽस्माकं पूर्वजाः एवमौपयोगिकशास्त्रेषु अतीव निष्णाता आसन्निति कालक्रमादिदम् अपूर्वं ज्ञानं लुप्तमित्यपि अवगम्यते। पाश्चात्यदेशेषु किञ्चित्कालात्प्राक्तनानामपि भवनानां विशेषरक्षा दृश्यते। किन्तु अस्माकं देशे चरित्रकालात्प्रागेवारभ्य उपलभ्यमानानाम् एतादृशविषयाणां रक्षणे अस्माभिः सुदृढा सुदीर्घा च दृष्टिरपेक्षिता इत्यस्य शोधपत्रस्य मुख्यं लक्ष्यमिति उपस्थापयामि।

◆◆◆

वेदानामीश्वरकर्तृत्वेऽपौरुषेयत्वविमर्शः

डॉ. प्रयागनारायणमिश्रः
प्रवक्ता, संस्कृतविभागे,
लखनऊविश्वविद्यालये

भारतीयधर्मस्य तत्त्वज्ञानस्यैकमात्रमूलभूतग्रन्थत्वेनाऽधिष्ठितानां वेदानामस्तित्वमस्ति सर्वविदितमेव लोके। वैदिकमतावलम्बिना-मभिमते तु वेदानां नित्यत्वमपौरुषेयत्वञ्चाऽवश्यमेवाङ्गीकार्ये स्तः। विषयेऽस्मिन् मीमांसकानां स्थापना विशेषतयोल्लेखनीया वर्तते। पुरुषगतभ्रमप्रमादविप्रलिप्सादिभिर्दोषै रहितान् वेदान् मीमांसको न केवलमपौरुषेयान्नपितु नित्यांश्च मनुते। मीमांसकाभिमते वेदानां प्रामाण्यार्थमन्यप्रमाणानामावश्यकता न वर्तते, तेषां स्वतःप्रमाणसिद्धत्वात्। अतो वेदप्रामाण्यविषयेऽनेनाऽवोचि-

'अकर्तृके च वेदे निर्दोषत्वमेव प्रामाण्यप्रयोजकमस्तु'[1]

अतो मीमांसकाऽभिमते वेदास्सन्त्यकर्तृका नित्याश्चेति। वेदानां नित्यत्वे सति प्रलयोत्तरं पूर्ववेदनाशादुत्तरवेदस्य प्रामाण्यं कथं भवितुमर्हतीत्याशङ्काप्रसङ्गे मीमांसकैः प्रलयसम्भव एव निराकृतः। प्रलयविरोधे मानाभाव इत्युक्त्वा मीमांसकः षट्सङ्ख्यकान् हेतून् निर्दिशति। किमधिकं मीमांसकः सर्गमपि नित्यमङ्गीकरोति समसन्तत्यापत्तेः।[2]

किन्तु **'कर्तारं विना कथं कार्यम्'**[3] इति न्यायसिद्धान्तमनुसृत्य कार्यस्य

---

१. न्यायकुसुमाञ्जलौ, संस्कृतभाष्यम्, पृष्ठे- ९०

२. तत्रैव, पृष्ठे- ९२-९३

३. षण्मतनाटके, पृष्ठे- ६४

हेतोरवश्यम्भावित्वान्नैय्यायिका मीमांसकसम्मतानां सर्वेषां पक्षाणां निर्मूलनं कृत्वा वेदान् नित्यान् अकर्तृकांश्च नैवाऽङ्गीकुर्वन्ति।[1] 'शब्दस्याऽनित्यत्वम्, उत्पन्नो गकार 'इति प्रतीति-सिद्धत्वात् सर्वथा सिद्धमेव।[2] अतः शब्दस्याऽनित्यत्वे वेदानां नित्यत्वं कथमपि न सिद्धिमुपयाति। इत्थं वेदानामनादित्वमपौरुषेयत्वं नित्यत्वञ्च नाङ्गीचक्रुर्नैय्यायिकाः। अतो वेदकर्तृरूपत्वेनेश्वरसिद्धिं प्रतिपादयता नैय्यायिकवर्गेणाऽभिहितं यच्छाब्दी प्रमा वक्तृयथार्थरूपगुणजन्या इति गुणाधारतया ईश्वरसिद्धिः। प्रलयसम्भवात् प्रलयोत्तरं पूर्ववेदनाशादुत्तरवेदप्रामाण्यार्थं यस्य महाजन-परिग्रहस्याऽवश्यकता वर्तते सोऽयं महाजनोऽणिमादिशक्तिसम्पन्नो विश्वासनिर्माणसमर्थो भगवान्नीश्वर एव स्वीकार्यः, यथोक्तमत्र न्यायकुसुमाञ्जलौ-

प्रमायाः परतन्त्रत्वात् सर्गप्रलयसम्भवात्।
तदन्यस्मिन्नविश्वासान्न विधान्तरसम्भवः।।[3]

उदयनाचार्येण वेदकर्तृरूपेण यस्येश्वरस्योल्लेखः कृतः सोऽयमीश्वरः पृथिव्यादिकार्यानुमितिसत्तात्मकः सर्वज्ञः परमेश्वर एवास्ति-

वेदस्य कर्ता पृथिव्यादिकार्यानुमितिसत्ताकः परमेश्वरः सर्वज्ञः[4]

आगमडम्बरमित्यपराभिधे षण्मतनाटके विद्वत्तल्लजेन जयन्तभट्टेन सर्वप्रथमं जगत्कर्तृरूपेणेश्वरसिद्धिं[5] विधायैतस्यैवेश्वरस्य वेदकर्तृत्वं दृढीकुर्वता अवोचि न्यायमञ्जर्याम्-

कर्ता य एव जगतामखिलात्मवृत्तिः
कर्मप्रपञ्चपरिपाकविचित्रताज्ञः।
विश्वात्मना तदुपदेशपराः प्रणीता-
स्तेनैव वेदरचना इति युक्तमेतत् ।।[6]

---

१. न्यायकुसुमाञ्जलौ, पृष्ठे- ८७-१३५
२. तत्रैव, पृष्ठे- ९१
३. न्यायकुसुमाञ्जलौ, २/१ पृष्ठे-८७
४. न्यायकलिकायाम्, पृष्ठे- ४
५. आगमडम्बरे ४/४०-४१
६. न्यायमञ्जर्याम्, प्रथमे भागे पृष्ठे- २२०

साक्षात् परमेश्वररूपेणाऽभिव्यक्तोऽयं वेदकर्ता त्रैलोक्यनिर्माणक्षमः परमो देवः क्लेशकर्मविपाकादिपरामर्शविवर्जितः कृपान्वितो नित्यानन्दश्चाऽस्ति-

वेदस्य पुरुषः कर्ता न हि यादृशतादृशः

किन्तु त्रैलोक्यनिर्माणनिपुणः परमेश्वरः।

स देवः परमो ज्ञाता नित्यानन्दः कृपान्वितः

क्लेशकर्मविपाकादिपरामर्शविवर्जितः।।[1]

आचार्यैर्बहुधा निरूपितोऽयमीश्वरः प्रायः पुरुषसञ्ज्ञयाऽभिधीयते। वेदस्य कर्ताऽयं पुरुषः कोऽपि यादृशतादृशपुरुषो नाऽस्ति। स तु ऋग्वेदे पुरुषसूक्ते प्रपञ्चितोऽखिलब्रह्माण्डस्रष्टा विश्वस्याऽस्यादिदेवत्वेन प्रतिष्ठितो जातः। अतएव श्रीमद्भगवद्गीतायाम् लौकिकदिव्योत्तमपुरुषरूपेणाऽयमेवं प्रोक्तः-

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।

यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः।।[2]

अनेनैव पुरुष इति विशिष्टसञ्ज्ञालङ्कृतेनेश्वरेणाऽथवा पुरुषविशेषेण वेदकर्तृत्ववशादेव नैय्यायिकैरन्यैः सार्द्धं जयन्तभट्टस्याऽयं प्रयोगो वेदानां पौरुषेयत्वं साधयितुमेव प्रतिभाति, किन्तु सूक्ष्मान्वेषणेनेदं निर्णेतुं शक्यते यद् वेदा अपौरुषेया एव, पुरुषस्याऽस्येश्वरत्वाद् यतो हि वेदकर्तृरूपेण यस्य पुरुषस्योल्लेखः कृतः स तु लौकिकपुरुषव्यतिरिक्तः कोऽप्यन्य एवाऽस्ति जगदीश्वरस्वरूपत्वेन।

अतः **'त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणः'**[3] इत्यादिरूपेणाऽस्येश्वरस्य पुरुष इत्यभिधाने मानोपलब्धिमङ्गीकृत्य पुरुषपदं पुरुषं वा ईश्वरस्य पर्यायं मत्वा तत्कर्तृकत्वाद्वेदानां पौरुषेयत्वमथवा लौकिकरचनासादृश्यं कथमपि न सिद्ध्यति।। अतो वेदानामीश्वरकर्तृत्वेऽपि सर्वथाऽपौरुषेयत्वमेवोपपद्यते।। अतः पूर्वपक्षरूपेण वेदानां मीमांसाभिमतं नित्यत्वमनादित्वं वा निरूप्य कस्मिंश्चित्कार्ये तत्

---

१. न्यायमञ्जर्याम्, प्रथमे भागे १/१७५

२. श्रीमद्भगवद्गीतायाम् १५/१७

३. तत्रैव ११/३८

कारणस्यावश्यम्भावित्वाद् एषामवधारणञ्च निराकृत्य जयन्तभट्टेन वेदकर्तृरूपेण यदीश्वरप्रामाण्यमभिव्यञ्जितं तेन निश्चप्रचमेवाऽवगम्यते यदखिलजगद्-विधातृत्वादस्यैवेश्वरस्य सृष्टिर्वेद इति-

एवं जगत्सर्गवत्, स एव वेदानाम्येकः प्रणेता भवितुमर्हति।[१]

मतमिदमागमडम्बराभिधे षण्मतनाटकेऽनेनरूपेण निदर्शितमाचार्यप्रवरेण भट्टजयन्तेन-

विधाता विश्वात्मा सकलजगतामेष च यथा
प्रणेता वेदानामपि स हि तथैवाऽमलमतिः।।[२]

अत्राऽखिलजगतां विधाता य ईश्वरो विश्वात्मा इति प्रोक्तः तेनैकेनैवेश्वरेण कर्तृत्ववशादेव वेदानां प्रामाण्यमङ्गीकार्यम्, न तु स्वत एव, यतोहि ईश्वरबहुत्वे काचन युक्तिर्नोपलक्ष्यते-

वेदानामीश्वरोक्तत्वात् प्रामाण्यं न पुनः स्वतः।
न चेश्वरबहुत्वेऽपि युक्तिः काचन विद्यते।।[३]

वेदानां भिन्नभिन्नाऽभिप्रायत्वपरस्परविरोधित्ववशाद् यदेककर्तृत्वमाक्षिप्यते, ईश्वरेऽनेकत्वञ्चोप-कल्प्यते तत्तु सर्वथा शास्त्रविरुद्ध एव यतोहि **'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'**[४] इत्यादिरूपेणाक्षेपोऽयं श्रुतिष्वपि निराकृतो जातः। ईश्वरस्य यानि बहूनि नामधेयानि दृष्टिपथमुपयान्ति तानि तु तस्येश्वरस्य महदैश्वर्यवाचकानि एव सन्ति। एतस्मादेव कारणादीश्वरोऽयमुपनिषत्स्वपि बहुधा निरुक्तो वर्तते-

स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्।
स एव विष्णुः स प्राणः स कालोऽग्निः स चन्द्रमा।।[५]

---

१. न्यायमञ्जर्याम्, प्रथमे भागे, पृष्ठे- २१९
२. षण्मतनाटके ४/४३
३. षण्मतनाटके ४/५५
४. ऋग्वेदे १/१६४/६४
५. कैवल्योपनिषदि १/८

नैय्यायिकाचार्येण जयन्तभट्टेनाऽपि **'एकः शिवः पशुपतिः कपिलोऽथ विष्णुः'**[१] इत्यादिरूपेण सुष्ठूक्तं यदव्याकृते परमात्मनि कोऽपि भेदो नाऽस्ति। न्यायमञ्जर्यामनेनेदं मतमनेनरूपेण सुष्ठु निभालितम्-

'अत एवैक ईश्वर इष्यते न द्वौ न बहवो वा'[२]

इत्थमीश्वरैकत्वे सिद्धेऽथ चैतेनैवेकेश्वरेण वेदकर्तृत्वे सर्वथासिद्धे सङ्क्षेपेणेदं **वक्तुं** शक्यते यद्वेदरचनासम्बद्धे लेशमात्रमपि दत्तचित्तो विद्वान् वेदानीश्वरसम्बद्धान् **अवश्यमेवाङ्गीकरोति। 'अतो नित्यानुमेयोऽपि कर्ता वेदस्य विद्यते'**[३] इत्यादिरूपेण **नैय्यायिकाभिमते वेदा ईश्वरस्य कार्यं ईश्वरं वा वेदानां कर्तारं निश्चप्रचमेवाऽवगन्तुं शक्यते।** भगवता वादरायणेनापि ब्रह्मसूत्रे **'शास्त्रयोनित्वात्'**[४] इति सूत्रेण **वेदानां ब्रह्मकार्यमुपपादितम् 'यस्य निःश्वसितं वेदाः'**[५] इत्यादिरूपेण वेदानामीश्वर-निःश्वासरूपत्वं प्रतिपाद्य यत्तेषां नित्यत्वमपौरुषेत्वञ्चाऽभिहितं तदपि वेदानामीश्वरप्रभवमभिव्यनक्ति। ब्रह्मणि शास्त्रयोनित्वेऽपि 'महतः ऋग्वेदादेः कारणं ब्रह्म' इत्युक्त्वाऽभ्यधायि आचार्यप्रवरेण शङ्कराचार्येण यत् सर्वज्ञगुणान्वितस्य ऋग्वेदादिलक्षणस्य शास्त्रस्योद्भवः सर्वज्ञादन्यतो भवितुं न शक्यते-

'नहीदृशस्य शास्त्रस्य ऋग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः सम्भवोऽस्ति।'[६]

किमधिकं ऋग्वेदीयेऽपि पुरुषसूक्ते यज्ञस्वरूपपरमपुरुषादेव ऋग्वेदादेरुद्भवस्य स्पष्टतयोल्लेखो विहितः-

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ।।[७]

---

१. षण्मतनाटके ४/५७
२. न्यायमञ्जर्याम्, प्रथमे भागे पृष्ठे- १८४
३. षण्मतनाटके ४/३६
४. ब्रह्मसूत्रे १/१/३
५. ऋग्वेदे सायणभाष्यभूमिकायां मङ्गलश्लोकः-२
६. ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्ये, पृष्ठे- २२१
७. ऋग्वेदे १०/९०/९

अतः स्वमतपुष्ट्यर्थं स्वरूपं तु किमपि भवतु वेदानामीश्वरजन्यत्वं तु सर्वथासिद्धमेवाऽस्ति। अतो वेदा ईश्वरस्य कार्यमस्ति नाऽस्त्यत्र शङ्काया अवसरो लेशमात्रमपि। कस्यचिदपि विषयस्य पौरुषेयत्वसिद्ध्यर्थं तस्य कर्तुः शरीरित्वं परमावश्यकं वर्तते तत्तु वेदकर्तरि परमात्मनीश्वरे कथमपि नोपलभ्यते। श्वेताश्वतरोपनिषदि सर्वज्ञानमयस्य भगवतो यस्य पुरुषस्योल्लेखः कृतः स तु विभिन्नशरीरावयवाऽभावे सर्वथाऽशरीर्येव-

अपाणिपादो यवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति सर्वं न हि तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तमिति।।[1]

न्यायकुसुमाञ्जलावपि न्यायतत्त्वमर्मज्ञेनाचार्येणोदयनाख्येनेश्वरेऽस्मिन्नि-न्द्रियाणामभावोऽङ्गीकृतः-

'आप्तोक्तश्चेत् एतदर्थगोचरज्ञानवतो नित्यसर्वविषयकज्ञानवत्त्वं इन्द्रियाद्यभावात्।।'[2]

कोऽपि पुरुषस्तु विभिन्नरागादिमलबन्धनैर्युक्तोऽसर्वविद्भवति किन्तु वेदकर्ताऽयं परमपुरुषो लौकिकपुरुषोचितस्वाभाविकधर्मैं रहितः सर्वज्ञ एव यतोहि नित्यानन्दात्मिके शिवे रागादयो दोषाः कथं सम्भाव्यन्ते-

पुंसामसर्ववित्तं हि रागादिमलबन्धनम्।
न च रागादिभिः स्पृष्टो भगवानिति सर्ववित्।
इष्टानिष्टार्थसम्भोगप्रभवः खलु देहिनाम्
रागादयः कथं ते स्युर्नित्यानन्दात्मके शिवे।।[3]

ईश्वरस्याऽस्याऽशरीरित्वेऽवयवैर्विना तस्मिन् कर्तृत्वकल्पनाऽसम्भवैव 'इत्याक्षेपप्रसङ्गे न्यायविच्छास्त्रमर्मज्ञैर्भणितं यदशरीरी आत्मवच्छरीरीश्वरो वेदकर्तृत्वे सर्वथा क्षमोऽस्ति तस्य ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नयोगित्वात्, यथाऽवोचि न्यायमञ्जरीकारेणाचार्येण जयन्तेन-

---

१. श्वेताश्वतरोपनिषदि ३/१९

२. न्यायकुसुमाञ्जलौ संस्कृतभाष्ये, पृष्ठे- १३५

३. न्यायमञ्जर्याम् १/१८४

'ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नयोगित्वं कर्तृत्वमाचक्षते तच्चेश्वरे विद्यते'[1]

'अपाणिपादो जवनो गृहीता'[2] इत्यादिभिरुपनिषद्वचनैर्मतमिदं पूर्वमेव समर्थितम्। अतोऽखिललौकिकरागादिप्रपञ्च-रहितस्याऽगोचराऽनन्तनित्यस्य सर्वज्ञस्य सर्वथासिद्धस्यैकैवेश्वरस्य वेदकर्तृत्वन्तेषां वेदानामपौरुषेयत्वमेवाऽभिव्यनक्ति यतोहि वेदानां पुरुषकर्तृत्वमीश्वरकर्तृत्वमेवाऽस्ति ईश्वरस्याऽस्यापुरुषत्वात्।

---

१. न्यायमञ्जर्याम्, प्रथमे भागे, पृष्ठे- १८५

२. श्वेताश्वतरोपनिषदि ३/१९

काव्येषु मुक्तकं श्रेयः

डॉ. रामसुमेरयादवः
उपाचार्यः, संस्कृतविभागे
लखनऊविश्वविद्यालये

लोकोत्तरवर्णनानिपुणं कविकर्म काव्यमिति सामान्यं काव्यस्वरूपम्। सद्यः परनिवृत्तिश्च सरसकाव्यश्रवणानन्तरमेव ब्रह्मास्वादसहोदरो, लौकिकाह्लादात्मकः, स्वप्रकाशानन्दचमत्कारस्वरूपो रसास्वादः, सहृदयहृदयसंवेद्यः सचेतसामपि हृदयङ्गमो भवति।[1] शरीरिणां यथा शारीरिकबुभुक्षापिपासाशान्तये मिष्ठान्नफल-दुग्धाहारपानसम्पादनार्थं परमप्रशस्यशस्यद्राक्षारसालतमाल वनोपवनगिरिनद्यादि-भौतिकपदार्थानां रचना ब्रह्मणा विधीयते। तथैव हि मानसिकबुभुक्षाशान्त्यर्थं तथा चाध्यात्मिकतोषावाप्तये सारस्वत्याः सृष्टेरपि विरचनं काव्यपुरुषैर्विधीयते। श्रुत्यनुसारेण-

स पर्यगाच्छुक्रमकायमब्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।

"कविर्मनीषी परिभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः"

इति स्वतः प्रमाणभूता श्रुतिरेव प्रमाणयति साहित्यदर्पणे विश्वनाथेन काव्याच्चर्तुवर्गफलप्राप्तिः कथिता, यथा-

"धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्य-निषेवणम्।"[2]

---

१. काव्यप्रकाशे १-२

२. साहित्यदर्पणे - प्रथमपरिच्छेदे श्लोकसङ्ख्या-१

अपि च-

नरस्त्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्त्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा।[1]

संस्कृतभाषायां गीतिकाव्यं मुक्तकं प्रबन्धमिति द्विप्रकारेणोपलभ्यते। यत् सन्दर्भादिभिर्बाह्योपकरणैर्मुक्तं भूत्वा रसवत्तां जनयति तदेव मुक्तकं काव्यम्। मुक्तकं बोद्धुं बाह्यसाधनामावश्यकता नैव भवति। मुक्तकं तु रसालरस इव मोदकं भवति। यस्य रसास्वादमात्रेण सचेतसां हृदयानि सद्य एव तृप्तिं यान्ति। ये आलोचकजना रसपुष्टिहेतवे प्रबन्धकाव्यमेव स्वीकुर्वन्ति किं तेनावगच्छन्ति यद् ध्वन्यालोककारेणाचार्यानन्दवर्धनेन "मुक्तकेषु हि प्रबन्धेष्विव रसावबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते।"[2] इति लिखितम् भर्तृहरिणा विलिखितानि शतकानि तथा च अमरुककविना प्रणीतं शतकं मुक्तककाव्यरूपत्वेन जगति प्रसिद्धानि। मुक्तकेषु सङ्गीतसमन्वितेषु छन्दःसु शृङ्गार-नीति-वैराग्यादीनां प्राकृतिकदृश्यानां मनोहारिवर्णनं वर्तते। मुक्तककाव्येषु कोमलभावनानां मधुरिमा विद्यते। तथा चेदं काव्यं प्रत्येकरसिकजनानां हृदयानि हठादावर्जयति। अस्मादेव सर्वेषु काव्येषु मुक्तकस्य श्रेयस्त्वं विपश्चितां मध्ये ख्यातमिति। रमणीजनानां सौन्दर्यमेषु काव्येषु स्वाभाविकतया परिस्फुटितं विद्यते। रसिकानां कृते नारीजनानां रूपं लावण्यञ्च प्रमोदं जनयतः। शृङ्गारस्य विभिन्नावस्थायाश्चित्रणं मुक्तकानां महती विशेषता। मुक्तकानामध्ययने नारीप्रेम्णः, उदात्ततताया विशुद्धतायाश्च परिचयः प्राप्यते। प्रकृतिचित्रणं प्रमुख्येन विद्यते। बाह्याप्रकृतिरन्तःप्रकृतिश्च मिथः सजीवतयात्र वर्णिते। संयोगवियोगयोरपि प्रकृतिर्मानवहृदय-माकर्षयत्येवमुल्लसितञ्च हृदयं प्राकृतिकं सौन्दर्यं नितरां द्विगुणायते।

लौकिकं धार्मिकञ्चेति मुक्तकस्य भेदद्वयं कर्तुं शक्यते। लौकिकं हि तत्र लोकस्य नानाविषयैस्सह सम्बन्धं स्थापयति। परन्तु धार्मिकं तु विशिष्टदेव-स्तुतिभिस्सम्बद्धं भवति। देवानां विशिष्टाभिस्स्तुतिभिर्महिममण्डिताः काव्यप्रबन्धा

---

१. साहित्यदर्पणे - प्रथमपरिच्छेदे
२. ध्वन्यालोके ३-पृष्ठे- ३५५

वर्तन्ते। एतेषामपि उत्पत्तिहेतवो वेदा एव भवितुमर्हन्ति। मेघदूतं हि मुक्तककाव्येषु आदिमुक्तकं वर्तते। काव्यमिदं संस्कृतसाहित्यस्य जाज्वल्यमान-रत्नमिवाभाति। यस्मिन् धनपतेः कुबेरस्य शापेनास्तङ्गमितस्य यक्षस्य मनोव्यथायाः हृदयान्दोलनकारि वर्णनं विहितम्। मेघदूतं कालिदासस्य अन्तःप्रकृतेः सूक्ष्मं निरूपणं करोति। कञ्चिदचेतनं वस्तु प्रेमप्रसङ्गे दौत्यकर्मणे प्रेषणं, प्रणयकर्मणि प्रगाढोत्कण्ठातिरेकस्य सद्योऽभिव्यक्तिः प्रतिभावयतः कवेः मूलभूता कल्पना। भामहानुसारेण मेघचन्द्रशुकादयो यदा दूतरूपेण प्रेष्यन्ते ते वाक्शक्तिरहितत्वाद् वक्तुमेव न पारयन्ति तदा दूतप्रेषणेन को लाभः?

"अवाचोऽव्यक्त वाचश्च दूरदेशविचारिणः।
कथं दूत्यं प्रपद्येरन्निति, युक्त्या न युज्यते।"[1]

परन्तु कालिदासेन पूर्वं कथितम् - **कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु।**[2]

अन्ततो भामहोऽपि- "यदि चोत्कण्ठया यत्तदुन्मत्त इव भासते तदा भवतु भूम्नेदं सुमेधः प्रयुज्यते।[3]

पार्श्वाभ्युदयमपि मेघदूतमिव मुक्तकत्वं भजते।
"तीव्रावस्थे तपति मदने पुष्पवाणैर्मदङ्गं,
तल्पे नाल्पं दहति च मुहुः पुष्पभेदैः प्रक्लृप्ते।
तीव्रापायत्वदुपगमनं स्वप्नमात्रेऽपि नापं,
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः।।"[4]

इति पद्ये मेघदूतमिव सहजता विद्यते। नेमिदूते नेमिनाथस्य तथा च तस्य पत्न्याः राजीमत्याः चरितं चित्रितम्। विरहविधुरायाः राजीमत्याः विरहवर्णनं करुणोत्पादकं वर्तते। शीलदूतमपि मुक्तकश्रेण्यां शोभामावहति। जैनमेघदूतं, चन्द्रदूतं, पवनदूतं, चेतोदूतं, हनुमद्दूतं, मणिपतिचरित् इत्यादीनि मुक्तकानि

---

१. काव्यालङ्कारे- १-४३
२. मेघदूते - पूर्वमेघे-५
३. काव्यालङ्कारे - १-४४
४. पार्श्वाभ्युदये - ४-३५

एव। हंससन्देशः वेदान्तदेशिकप्रणीता दूतरचना मुक्तककाव्यशृङ्खलायां प्रागल्भ्यं भजते। रूपगोस्वामिना हंसदूतं, वीरेश्वरेण वाङ्मण्डनगुणदूतं विनयप्रभुणा चन्द्रदूतं, विनयविजयगणिना चन्द्रदूतं, कृष्णचन्द्रतर्कालङ्कारेण चन्द्रदूतं, इन्दुदूतं च विनयविजयगणिना प्रणीतम्।

नीतिशतके उदात्तगुणान् गृहीतुमाग्रहं करोति कविः। येषामनुशीलनं मानवानां कृते मङ्गलसाधको वर्तते। तदनुसारेण यो जनो नरदेहमवाप्य सद्गुणानुपार्जयति सः जनो वैदूर्यमणिना निर्मिते पात्रे चन्दनकाष्ठेन लशुनं पचति।"

"मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णा-
स्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः।
परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः।।"[१]

शृङ्गारशतके नारीणां हृदयपरीक्षणं कविः करोति प्रेरणाप्रभावितानां कामिजनानां चित्तेषु ललितक्रीडा वर्तते। वैराग्यशतके कवेः सर्वस्वं प्रतिभाति-

धन्यानां गिरिकन्दरेषु वसतां ज्योतिः परं ध्यायता
आनन्दाश्रुकणान् पिबन्ति शकुना निःसङ्गमङ्केशयाः।
अस्माकं तु मनोरथोपरचितप्रासाद-वापीतट-
क्रीडाकाननकेलिकौतुकजुषामायुः परं क्षीयते।।[२]

अमरूकस्य समक्षं सामान्याः कवयो नैव स्थातुं शक्नुवन्ति। स नास्ति शब्दकविः अपितु स रसकविः। एकत्र पतिं परदेशं प्रति गमनोत्सुकं पश्यति तस्य पत्नी। तत्र कामिन्याः हृदयस्थिता विह्वलता दर्शनीया वर्तते। पत्युः शुभागमनस्य वृत्तं निशम्य सा हर्षिता। सः मुक्तकरचनायां सिद्धहस्तः कविः-

---

१. नीतिशतके - ७०

२. वैराग्यशतके - १५

प्रस्थानं वलयैः कृतं प्रियसखैरस्रैरजस्रं गतं,
धृत्या न क्षणमासितं व्यवसितं चित्तेन गन्तुं पुरः।
यातुं निश्चितचेतसि, प्रियतमे सर्वे समं प्रस्थिताः।
गन्तव्ये सति जीवित प्रियसुहृत् सार्थः किमु त्यज्यते।[1]

पद्यमिदं काव्यप्रकाशे चतुर्थे उल्लासे प्रयुक्तं वर्तते। भल्लटशतकमपि मुक्तकमस्ति। यस्योदाहरणानि मम्मट-क्षेमेन्द्राभिनवगुप्तपादैः स्वस्वग्रन्थेषु स्वीकृतानि। गाथासप्तशती शृङ्गाररससमन्विता नूतनभावनाभिव्यक्तिपरिपूर्णा, गूढ़ार्थाभिव्यञ्जनासंवलिता वर्तते। अस्या उदाहरणानि ध्वन्यालोक-काव्यप्रकाश-रसगङ्गाधरलक्षणग्रन्थेषु विद्यन्ते। गोवर्धनाचार्येण आर्यासप्तशती प्रणीता। शृङ्गाररसपरिपूरितं मुक्तकमेतत्। विरहसंतप्ताया नायिकाया वर्णनं चमत्कारी आवर्जनपरं विद्यते।

"न स वर्णो न च रूपं न संस्क्रिया कापि नैव सा प्रकृतिः।
बाला त्वद्विरहादपि जातापभ्रंशभाषेव"।।[2]

जयदेवकृतं गीतगोविन्दं को न जानाति तत्तु एवंभूतं मुक्तकं विद्यते यद् द्वादश-सर्ग-समन्वितं संस्कृत-भारतीपरिपूरितं सौन्दर्यमाधुर्ययोः पराकाष्ठात्त्वं भजते। दर्शनीयं तत्र एकं पद्यम् -

मृगमद सौरभरभसवंशवदनवदल-मालतमाले।
युवजनहृदयविदारण मनसिजनखरुचिकिंशुकजाले।[3]

रूपगोस्वामिना प्रणीतं स्तवमालेति नाम मुक्तकं जगति प्रसिद्धं। गोविन्ददासेन विरचितं पदकल्पतरुमुक्तकं काव्यं विद्यते।

स्तोत्रसाहित्यं संस्कृतवाङ्मयेऽतिशयेन विलसति। शिवमहिम्नस्तोत्रं को न जानाति। यद्धि शिवस्य महिम्नः सन्दर्भे भाषालालित्यनिर्भरं दार्शनिकाध्यात्मपरं

---

१. अमरूकशतके - (काव्यप्रकाश-चतुर्थोल्लासे उदाहरणश्लोकः ३५)

२. आर्याशप्तशत्यां- ३४२

३. गीतगोविन्दे- १-४

शैवस्तोत्रं विद्यते। सूर्यशतकं मयूरभट्टेन स्रग्धराछन्दसा सुसज्जितम्। चण्डीशतकं वाणभट्टेन प्रणीतम्। शङ्कराचार्यस्य भजगोविन्दमिति तस्य कीर्तिकौमुदीं विस्तरीकरोति। सौन्दर्यलहरी शङ्कराचार्येण लिखिता-

"शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं।
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दतुमपि।"[1]

तथा च-

"तनीयांसं पांसुं तवचरणपङ्केरुहभवं,
विरञ्चिः सञ्चिन्वन् विरचयति लोकानविकलम् "।[2] इति

मुकुन्दमाला कुलशेखरेण विरचिता वर्तते! तत्र केवलं चतुरधिकत्रिंशत् पद्यानि सन्ति तथापि मुक्तककाव्यश्रेण्यां सुषमामादधाति। यामुनाचार्येण आलवन्दारस्तोत्रं भक्तिभावेन हृदयेन, भगवनः समक्षं दैन्येन प्रस्तुतम्। लीलांशुकेन कृष्णकर्णामृतमिति ललितकाव्यं निबद्धम्। वेदान्तदेशिकेन पञ्चविंशतिः स्तोत्ररत्नानि प्रणीतानि। पादुकासहस्रम् अत्यन्तमेव प्रख्यातं स्तोत्रम्। वैङ्कटाध्वरिणा लक्ष्मीसहस्रं, सोमेश्वरेण कीर्तिकौमुदी, रामभट्टदीक्षितेन रामचामस्तवं, नारायणेन नारायणीयं, पण्डितराजजगन्नाथेन गङ्गालहरीति गीतिर्विरचिता। दुर्वाससः शम्भुमहिम्नास्तवः, लङ्केश्वरस्य शिवस्तुतिः, उत्पलदेवेस्य शिवस्तोत्रावली, कल्हणस्य अर्धनारीश्वर-स्तोत्रमित्यादीनि हि सर्वाणि मुक्तककाव्यानि वर्तन्ते। समासतः कथयितुं शक्यते यदेतद्वियुक्तं साहित्यं मुक्तकस्य श्रेयस्त्वं प्रदर्शयति। अत उक्तिरियं चरितार्था एव यत् काव्येषु मुक्तकं श्रेयः इति।

१. सौन्दर्यलहर्याम्- १

२. तत्रैव- २

पारस्करगृह्यसूत्रोक्तं कन्यायाः सुमङ्गलीत्वनिर्धारणम्

डॉ. सरोजकुमारशुक्लः
शोधसहायकः, संस्कृतविभागे,
लखनऊविश्वविद्यालये, लखनऊ

भारतीयसंस्कृतेः संस्कृतवाङ्मयस्य चाऽक्षुण्णपरम्परायां वेदानां नितान्त-गौरवपूर्णस्थानमस्ति। वेदानां सम्यग्ज्ञानाय वेदाङ्गानामध्ययनं परमावश्यकम्। वेदाङ्गेषु कल्पसाहित्यस्यान्तर्गतं चतुर्धा सूत्रसाहित्यं स्वीक्रियते-श्रौतसूत्रं गृह्यसूत्रं धर्मसूत्रं शुल्वसूत्रञ्च। एतेषु गृह्यसूत्राणाम् अन्तर्गतं गृह्यानुष्ठानसम्बन्धिकृत्यानि समाहितानि। एतेषामनुष्ठानानामन्तर्गतं संस्काराणामपि उल्लेखः कृतः-येषु उद्वाहसंस्कारस्य अतिमहत्त्वम्। पारस्करगृह्यसूत्रे उद्वाहसंस्कारस्य सन्दर्भे 'सुमङ्गली' इति शब्दः प्रयुक्तः। एतस्मात्पूर्वं ऋग्वेदे 'सुमङ्गली' इत्यस्य शब्दस्य उल्लेखो विहितः-

"सुमङ्गलीर्बिभ्रती देववीतिम्। इहाघोषः श्रेष्ठतमा व्युच्छ"।।[1]

अथर्ववेदेऽपि अस्योल्लेखः प्राप्यते-

"सा नो अस्तु सुमङ्गली"।।[2]

'सुमङ्गली' इति शब्दस्य व्युत्पत्तौ यदि विचारः क्रियते तर्हि 'सु' इति उपसर्गपूर्वकं 'मङ्ग्' धातुना अलच्प्रत्ययस्य योगेन स्त्रीत्वस्य च विवक्षायां 'ङीप्' इति प्रत्यययोगेनैषः शब्दो निष्पन्नो भवति-यस्यार्थः 'उत्तममङ्गलकर्त्रिनवोढा' इति भवति।

---

१. ऋग्वेदे १/११३/१२

२. अथर्ववेदे ३/१०/२

पारस्करगृह्यसूत्रानुसारं वैवाहिककृत्यस्यान्तर्गतं यस्मिन् काले वरेण कन्यायाः सीमन्ते सिन्दूरं पूर्यते तस्मिन् काले वरेण एतन्मन्त्रं पठ्यते-

"सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत
सौभाग्यमस्यै दत्त्वा याथास्तं विपरेतन"।।[1]

अभिप्रायोऽयमस्ति यत् हे उद्वाहस्य अधिष्ठातृदेव्यः! एषा वधूः मङ्गलकारिणी अस्ति। यूयं एकत्रीभूय समवेतरूपेण अस्याः अवलोकनं कुरुथ। अस्यै सौभाग्यं पुत्रादिकञ्च मङ्गलमयाशीर्वादं दत्वैव यूयं स्वस्थानं व्रजन्तु न तु विमुखं भूत्वा।

एष आशयोऽस्ति यत् सा स्वभाविजीवने मङ्गलकारिणी कल्याणकारिणी च वा स्थितिं प्राप्स्यति।

सौभाग्यशालिनीनवोढा वराय सदैव कल्याणकारिणी भवति। सप्तपदीकृत्ये एतदेव तथ्यं स्पष्टं कृतम् -

"एकमिषे द्वे ऊर्जे त्रीणि रायस्पोषाय चत्वारि मायोभवाय पञ्च पशुभ्यः षड् ऋतुभ्यः सखे सप्तपदा भव सा मामनुव्रता भव।।"[2]

अर्थात् हे कन्ये! तव प्रथमं पदम् अन्नस्य, द्वितीयं शक्तेः, तृतीयं धनस्य, चतुर्थं सुखस्य, पञ्चमं पशूनां, षष्ठम् आर्तभोगस्य सप्तमं च सौख्यसम्पादनस्य निमित्तमस्ति। त्वं मम कर्त्तव्यपालने सहायिका भवतु।

यस्याः कन्यायाः पाणिग्रहण-संस्कारो भवति, तस्यां कन्यायाम् एतानि नैकानि शुभलक्षणानि प्राप्यन्ते यैः तस्याः सुमङ्गलीत्वं द्योतितम्-एतेषां लक्षणानां सुमङ्गलीत्वस्य निर्धारणे भृशं महत्त्वं भवति। शाङ्खायनगृह्यसूत्रे कन्येयमधोलिखितलक्षणोपेता प्रोक्ता-

"या लक्षणसम्पन्ना स्यात्। यस्या अभ्यात्मङ्गानि स्युः।
समाः केशान्तः। अवर्तावपि यस्यै स्यातां प्रदक्षिणी ग्रीवायाम् ।"[3]

---

१. पारस्करगृह्यसूत्रे १/८/९

२. तदेव १/८/९

३. शाङ्खायनगृह्यसूत्रे १/५/६-९

एतादृशैर्लक्षणैर्युक्ता कन्या 'सुमङ्गली'इति उच्यते। अन्यत्रापि कथितम्-

"रोमराजीस्वरो वर्णः प्रकृतिश्चलनं तथा।
एतत्सर्वे परीक्षेत सा कन्या गृहमण्डनम् ।।"[१]

एतादृशी सुमङ्गली कन्या गृहशोभा भवति। गदाधरेण पारस्करगृह्यसूत्रभाष्ये कन्यायाः सुमङ्गलत्वसन्दर्भे प्रोक्तम्-

"कन्यां कनकसम्पन्नां कनकाभरणैर्युताम् ।
दास्यामि विष्णवे तुभ्यं ब्रह्मलोकजिगीषिया।।"[२]

आचार्यमनुनाऽपि कन्यायाः शुभलक्षणानां सन्दर्भे प्रोक्तम्-

"अव्यङ्गाङ्गी सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम् ।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत्स्त्रियम् ।।"[३]

अर्थात् पूर्णाङ्गिनी, सुनामिका, हंसगामिनी गजगामिनी वा, सूक्ष्मलोमदन्तयुक्ता मृद्वङ्गी कन्यैव उद्वाहयोग्या भवति। सुमङ्गलीत्वान्तर्गतं तस्याः दीर्घायुषोऽपि कामना कृता-

जरां गच्छ परिधत्स्व वासो भवाकृष्टीनामभिशस्तिपावा।
शतं च जीव शरदः सुवर्चा रयिं च पुत्राननुसंव्ययस्वायुष्मतीदं
परिधत्स्व वासः।[४]

हे कन्ये! त्वं मया साकं निर्दोषरूपेण वृद्धावस्थापर्यन्तं निवासं कुरु। एतद् वस्त्रं धारयतु, मामभिशापाद् रक्षतु, पातिव्रत्यपूर्णा भूत्वा शतवर्षाणां आयुर्दायं लभस्व, पुत्रान् समुत्पाद्य धनराशिं सङ्ग्रहं कुरुस्व, हे आयुष्मतिएतद्वस्त्रं धारयतु।

---

१. शाङ्खायनगृह्यसूत्रे १/५/१० टीकायां पृष्ठे- २२

२. पारस्करगृह्यसूत्रे गदाधरभाष्ये पृष्ठे-११६

३. मनुस्मृतौ ३/१०

४. पारस्करगृह्यसूत्रे १/४/१२

सुमङ्गली नवोढा कन्या भविष्ये पुत्रवती भवति। अथ च सा सर्वेभ्यः कल्याणप्रदाऽङ्गीकृता-

"आ नः प्रजां जनयतु प्रजापति राजरसायसमनक्त्कार्यमा।
अदुर्मङ्गलीः पतिलोकमाविशः शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे।।"[1]

या कन्या सुमङ्गलकारिणी भवति, सा पतिगृहे स्थिरतां लभते, यथोक्तमस्मिन् मन्त्रे-

"ध्रुवमसि ध्रुवाऽहं पतिकुले भूयासम् अमुष्यासाविति पतीनां
गृह्णीयादात्मनश्च।।"[2]

सुमङ्गलीत्वगुणयुक्तकन्यायाः पाणिग्रहणसंस्कारो येन पुरुषेण सार्धं सम्पन्नो भवति सः निरन्तरमभ्युदयं प्राप्नोति।

इत्थं पारस्करगृह्यसूत्रोक्तं कन्यायाः सुमङ्गलीत्वं तां शुभलक्षणयुक्तां मनुते। अर्वाचीनकालेऽपि कन्यागुणानां महत्त्वं स्वीकृतम्। सुमङ्गलकारिणीकन्या सर्वत्र सुखं समृद्धिं च प्राप्नोति।

---

१. गोभिलगृह्यसूत्रे २/१/५

२. तदेव २/३/९

अथ शोधाधिकारी

प्रो. रहसबिहारीद्विवेदी
जबलपुरम्, मध्यप्रदेशः

अर्थतश्छत्रशीलोऽपि यो योग्यः शाशितुं गुरोः।
छात्रं शिष्यं च तं नत्वा तच्छोधगतिमाश्रये।।

अथातः शोधच्छात्रजिज्ञासा।

शोधाधिकारी तु गुरुकृपयाऽनुकरणेन योग्यतया वोच्चाङ्कैस्सहाधिगत-स्नातकोत्तरोपाधिः, अलब्धसेवाकार्यः स शुल्कं पूरितावेदनपत्रः, उच्चाध्ययनावसरेऽन्यथा वा जाति दलादिमाध्यमेन शोधनिर्देशनैकशरण-गुरुचरणपरिचितो योग्यश्चाटुकारो वा 'छत्रादिभ्यो णः,' 'शासइदङ्हलो इति पाणिनिसूत्रयोर्व्युत्पत्तिलभ्य प्रवृत्तिमयः (गुरोर्दोषावरणं छत्रं तच्छीलमस्य, शासितुं योग्यः शिष्यः) काम्यनिषिद्धकर्मवर्जनपुरस्सरं नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तो-पासनानुष्ठानेन निर्गतनिखिलस्वाभिमानः साधनचतुष्टयसम्पन्नोऽनुधित्सुः शोधाधिकारी।

काम्यानि- उपाधिप्राप्तिसेवोपलब्धादीनोत्कृष्टसाधनानि-उत्कोचानुशंसादीनि, निषिद्धानि गुरोः कोपसाधकानि तद्विरुद्धाचार्यसम्पर्कादीनि, नित्यानि- अकरणे प्रत्यवायसाधनानि-गुरुचरणा लिङ्गनशाकदुग्धचायताम्बूल धूमयष्टिकाद्यानयनादीनि, नैमित्तिकानि गुरोस्तत्सन्ततीनां वा जन्मदिनाद्यवसरे समुपायनीक्रियमाणानि मिष्ठान्नवस्त्रादीनि, प्रायश्चित्तानि-गुरोः कोपक्षयसाधनानि तन्निर्दिष्टकार्य-सम्पादनतद्गृहागमनतदादेशपालनेष्वस्खलितोपचारादीनि, उपासनानि पूर्वप्रस्तुत-श्चविषयसम्बद्धानेकशोधप्रबन्धानुहरणानुसरणादीनि। साधनचतुष्टयं नाम- (१) नित्यानित्यगुरुकार्यविवेकः, (२) समग्रच्छात्रवृत्तिभोगविरागः (कदाचित्सौभाग्याद्

गुरुचरणैश्छात्रवृत्तिभोगोऽनुमतस्तथापि-आकस्मिकनिधिविरक्तिस्त्वनिवा (३) गुरुनिर्दिष्टसर्वविधकार्य सम्पादनतितिक्षा, (४) शोधोपाधिसेवावाप्तिलोलुपत्वम्।

अभिनवानपि सर्वानधिकारान् सम्यग् विज्ञाय गुरुं प्रति क्रान्तिविद्रोहादि-दुर्गुणरहितोऽन्धभक्तिनवनीतलेपनादिसद्गुणसहितः, आत्मकल्याणमुद्दिश्य निजप्रतिद्वन्दिनं प्रतिभाशालिनं छात्रं प्रति गुरुमनसि तिरस्कारभावोत्पत्तौ नितान्तं निपुणः, सर्वविधोत्तरपुस्तिकापरीक्षणविचक्षणः, आज्ञा 'गुरूणामविचारणीया' 'गुरुर्ब्रह्मे'तित्यादिवाक्येषु कृतविश्वासः, वायुयानरेलयानाद्यारक्षणकोषालय-पत्रालय-मुद्रणालय-पुस्तकालय दूरभाषायकरादिकार्यालयलिपिकैस्तत्सम्बद्धा-धिकारीभिस्सह कृतप्रगाढपरिचयः, गुरोरल्पवयस्कसन्ततिविद्यालयमार्गादिज्ञाता, आपणकार्यचतुरोऽपि ग्रामतो गोधूमशुद्धघृताम्रादिवस्तुजातं स्वल्पमूल्येन विना मूल्यं वाऽनेतुं समर्थः, परब्रह्मस्वरूपिणमपि स्वं गुरुद्रुह्यतामाचार्याणां छात्राणां वा तर्जनाय छात्रनेतृभिः सह मैत्रीभावमुपगतः, गुरुविरोधिदलनिर्णयसंसूचनचतुरः, उक्तेषु गुणेषु सत्स्वपि कोटालाइसेंसादि प्रबन्धकपुत्रत्वं, मन्त्रिपुत्रत्वं वा सकलगुणमौलिभूतमिति कृत्वा तदभावे तथाविधसम्मान्यजनेन कृतप्रगाढपरिचयः किं बहुना कारस्वामिता मोपेडशालिशोधकर्तुर्योग्यता पयसि शर्कतापातवत् किन्तु सूत्रधारं पुत्तलिकेव, श्रुतिं स्मृतिरिव, ब्रह्मनिष्ठं वेदान्ताधिकारीव, मायामभिमानी जीव इव, नारीं कामीव, शोधनिर्देशकं गुरुमुपसृत्य तममनुसरतु 'गुरोः सदा कौपीनं क्षाल्यम्, 'पुच्छचालनस्यैव महत्तेत्यादि सर्वगन्धोक्तेः।

◆◆◆

पदप्रज्ञोपनिषद्

प्रो. रहसबिहारीद्विवेदी
जबलपुरम्, मध्यप्रदेशः

वार्तापत्रसम्पादक उवाच-

तवक्षेत्रे पदक्षेत्रे समवेताः पदेप्सवः।
सत्तापक्षा विपक्षाश्च किमकुर्वत तद्वद।।

वार्ताहर उवाच-

पदप्रज्ञं जनं ज्ञातुं भ्रमन् श्रीमन्नितस्ततः।
दृष्टवान् पदवन्तं तं बोधयन्तं दलं स्वकम्।

पदलिप्सुरुवाच-

पदप्रज्ञस्य का भाषा पदरक्षाविपश्चितः।
पदधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत् किम्?

श्रीपदवानुवाच-

न जहाति यदा कामान् सर्वान् स्वार्थमनोगतान्।
आत्मन एव धने तुष्टः पदप्रज्ञस्तदोच्यते।।
दुःखे बहुसमुद्विग्नः सुखेषु शाश्वतस्पृहः।
युक्तरागभयक्रोधः पदधीर्जन्तुरुच्यते।।
सर्वत्रस्वजनस्नेहात् तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
अभिनन्दति च द्वेष्टि च पदप्रज्ञाप्रतिष्ठितः।।

सदा संहरते नायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञापदस्थिताः।।
विषया न निवर्तन्ते सदाहारस्य देहिनः।
सुरादिजो रसोऽप्यस्य पदं लब्ध्वा प्रवर्धते।।
यततो ह्यपि कौलीनं पदस्थस्याविपश्चितः।
वार्तावहा विवर्णस्थे हरन्ति प्रसभं मनः।।
तेभ्य उत्कोचदानेन पदं रक्षति तत्परः।
वशे यत्सूच्यसञ्चारः पदं तस्य प्रतिष्ठितम्।।
ध्यायतो धनसम्प्राप्तिं सङ्गस्तस्यां हि जायते।
कुवृत्तिर्ज्ञायते लोकैर्विरोधस्तेन जायते।।
विरोधात्त्यागपत्रस्य याञ्चा भवति दुःसहा।
त्यागपत्रात्पदान्मुक्तः दुर्गतिं स्वां प्रपश्यति।।
रागद्वेषादियुक्तेभ्यः कृष्णराशिं समर्पयन्।
आत्मवश्यान् हि तान् कृत्वा पदं स्वीयं हि रक्षति।।
पदे समस्तकामानां सिद्धिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्यासु धनं पर्यवतिष्ठते।।
न शान्तिः पदमुक्तस्य न जनतासमादरः।
धनाभावतयाऽशान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्।।
सौविध्यावासयानानां हरणं तस्य जायते।
शासनादेशतः सर्वं वायुर्नावमिवाम्भसि।।
तस्माद् विरोधिनः सर्वान् वशीकृत्य धनादितः।

पदं रक्षति तेभ्यो यः पदं तस्य प्रतिष्ठितम्।।

या निशा शूकदंशेषु जनतायाः समाप्यते।

वातानुकूलयुक्ता सा पदस्थस्य सुरादिषु।।

आपूर्यमाणं ह्यचलप्रतिष्ठं

समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।

तद्वद्दले तस्य विशन्ति सर्वे

स शान्तिमाप्नोति न वीतसत्तः।।

विधाय कामान् यः सर्वान् पदप्रज्ञो हि सस्पृहः।

रागाभिमानसंयुक्तः स शान्तिमधिगच्छति।।

एषा पदस्थितिस्तात्! नैनां प्राप्य विमुञ्चति।

स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि राजसम्मानमृच्छति।।

मुक्तक संस्कृत काव्यों में कविसमय

प्रो. अभिराज राजेन्द्र मिश्र
पूर्व कुलपति,
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय

कविसमय (Poetic Conventions) का सर्वग्राह्य अर्थ है कवियों द्वारा प्रयुक्त रूढ़ियाँ। कविसमय, एक प्रकार से कवियों का स्वैराचार है जो मात्र स्वान्तः सुखाय होता है। कविसमय, कविता में किया गया वह अनन्यपरतन्त्र प्रयोग है जो किसी काव्यशास्त्रीय देशना की अपेक्षा नहीं करता। जब कोई कवि अपयश या कलङ्क को कज्जलगिरि तथा कीर्ति को शरच्चन्द्र की चन्द्रिका बताता है तो उसका अपना निरङ्कुश स्वारस्य है कोई शास्त्र-सम्मत वर्णन नहीं।

आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश के मङ्गलाचरण में स्पष्टतः कहा है-

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति।।[१]

कवि की वाणी को, उसके रचनाकर्म को नियतिकृत नियमों अर्थात् वैधातृक नियमों से रहित तथा अनन्य-परतन्त्र बताया गया है। ब्रह्मा के बनाये संसार में प्रत्येक प्राणी का जीवन उसके पूर्व कर्मों के अधीन होता है। परन्तु कवि की वाङ्मयी-सृष्टि में कुछ भी कर्मविपाकाधीन नहीं होता। सब स्वतन्त्र होता है। आखिर क्यों! इसलिए कि कवि 'अपरवेधा' होता है। वह अपनी सृष्टि में पूर्ण स्वतन्त्र, अधिकृत, समर्थ एवं निरङ्कुश होता है। फलतः उसकी सृष्टि, उसकी अभिरुचि के अधीन होती है, जैसा कि प्रोक्त है-

---

१. काव्यप्रकाश १.१.

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथाऽस्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते।।[१]

वस्तुतः कविता में किसी कवि की यही नियतिकृत नियम-रहित अनन्य-परतन्त्र अभिव्यक्तियाँ 'कविसमय' कही जाती हैं। जङ्गल में शेर-शेरनी का प्रणय कोई विलक्षण घटना नहीं है। उसके प्रणयासक्त होने पर अन्य वन्य जीव-जन्तु अपने-अपने व्यापारों में लीन रहते ही हैं। परन्तु कवि किस दृष्टि से इस घटना को देखता है? वह यूँ देखता है मानों सिंह के सिंही-प्रणय में आसक्त एवं शिथिल होने मात्र से ही सारे वन्य जीवों को खुली छूट मिल गई है। जो बब्बर शेर के भय-वश दुबके पड़े रहते थे, अब उनकी भी बन आई है। सारा जङ्गल 'अराजकता' से ग्रस्त हो उठा है-

कः कः कुत्र न घुर्घुरायितघुरीघोरो घुरेत्सूकरः
कः कः कं कमलाकरं विकमलं कर्तुं करी नोद्यतः?
के के कानि वनान्यरण्यमहिषा नोन्मूलयेयुर्यतः
सिंहीस्नेहविलासबद्धवसतिः पञ्चाननो वर्तते।।[२]

कवि की यह विशिष्ट दृष्टि ही कविसमय है।

'समय' शब्द अनेकार्थक है। अमरकोश में दो बार इस शब्द को उद्धृत किया गया है। प्रथम काण्ड में 'समय' काल के पर्यायरूप में व्याख्यात है- **कालो दिष्टोऽप्यनेहाऽपि समयोऽप्यथ (पक्षतिः)** तृतीय काण्ड में इसके पाँच अर्थ बताये गये हैं- शपथ, आचार, काल, सिद्धान्त तथा संवित्।

समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः।

किरातार्जुनीयम् के 'न समयपरिरक्षणं क्षमं ते' काव्यांश में प्रयुक्त समय शब्द शपथ के अर्थ में है। तथापि 'वक्तुं व्यवसाययन्ति मां निरस्तनारीसमया दुराधयः' में समय आचारार्थक है। समय 'एव करोति बलाऽबलम्' काव्यांश

---

१. अग्निपुराण ३३८.१०

२. काव्यप्रकाश ७.२२५

में समय कालवाचक है तो ध्वन्यालोक के प्रथमोद्योतगत 'न तत्समयाऽन्तःपाति' आदि अंश में प्रयुक्त समय का अर्थ है सिद्धान्त। स्वसमयेन जानाम्यहम् जैसे प्रयोग में समय शब्द ज्ञानार्थक है।

परन्तु 'कविसमय' में प्रयुक्त 'समय' शब्द का क्या अर्थ होना चाहिए। मेरी दृष्टि में यहाँ समय का अर्थ आचार एवं सिद्धान्त दोनों होना चाहिए। कविसमय कवियों का अपना सिद्धान्त भी है (जो उसी रूप में लोक में चरितार्थ नहीं होता) और उनका विशिष्ट आचार भी! कवि जिस दृष्टि से दैन्य, छल-छद्म, उपकार, अपकार, प्रेम आदि को देखता है वह उसका विशिष्ट 'आचार' (निसर्ग, Habit) ही तो है। यह विशिष्टता ही कविकर्म को 'अलौकिक' भी बनाती है-

अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं कविताविशेषम्।।[1]

कुछ समीक्षकों ने कविसमय को अंग्रेजी मोटिफ (Motif) का पर्याय माना है। मोटिफ की व्याख्या ऑक्सफोर्ड कोश में की गई है- A distinct element or outstanding feature in an artistic or literary or musical composition.

अर्थात् कविकर्म में विद्यमान विलक्षणता ही मोटिफ है। यह व्यवस्था बहुत कुछ कविसमय के आचारपरक अर्थ से मेल खाती है। मोटिफ काव्यरचना, सङ्गीतरचना तथा स्थापत्य- कहीं भी हो सकता है। ऑक्सफोर्ड की यह व्याख्या भी सत्य प्रतीत होती है। क्योंकि महाकवि कालिदास ने भी गीत-रचना के सन्दर्भ में 'विरचितपदत्व' की बात कही है।[2] गीत की शब्दसम्पत्ति मार्मिक होनी चाहिए। उसमें 'गोत्राङ्कता' होनी चाहिए तभी तो गीत में वैलक्षण्य का आधान हो पायेगा। प्राचीन स्थापत्यों में भी शङ्ख, कमल, गजलक्ष्मी, सिंह, स्वास्तिक, नन्दी, धनुष-बाण तथा मीन-मकरादि की आंकृतियाँ मोटिफ का ही सङ्केत करती हैं।

---

१. ध्वन्यालोक १/६

२. उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य! निक्षिप्यवीणां
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा।- मेघदूतम् उत्तरमेघ-०७

विरही यक्ष मेघ को अपने घर की पहचान कराता है-

एभिस्साधो हृदयनिहितैर्लक्षणैर्लक्षयेथाः
द्वारोपान्ते लिखितवपुषौ शङ्खपद्मौ च दृष्ट्वा।[1]

प्रवेशद्वार के दोनों ओर शङ्ख और पद्म का चित्र होना एक विशिष्ट सङ्केत (Motif) है क्योंकि अलका राजराज कुबेर की नगरी है जो देवताओं के वित्तेश हैं। भला उस नगर का कोई निवासी दीन-दरिद्र कैसे होगा? शङ्ख और पद्म से यही सङ्केत मिलता है क्योंकि शङ्ख और पद्म मङ्गल-चिह्न होने के साथ ही साथ, सम्पत्ति के मानदण्ड भी हैं जो लक्ष, कोटि से भी ऊपर हैं।

कविसमय विस्तार एवं सङ्क्षेप- दोनों रूप विद्यमान हैं। अपने सङ्क्षिप्त रूप में वे मात्र उन रूढ़ियों के प्रतीक हैं जो केवल काव्यरचना में सम्भव होती हैं (लोक में नहीं), जैसे- नायिका के आलिङ्गन मात्र से आम का मञ्जरित हो उठना, पुरोनर्तन से कर्णिकार का पुष्पित हो उठना, नर्मवचन सुनने मात्र से मन्दार में फूल आ जाना आदि।[2] इसी प्रकार चकोर का (चन्द्रमा के भ्रमवश) अग्निकण-भक्षण, चक्रवाक-दम्पती का रात्रिवियोग, समुद्र में विद्यमान अग्नि का वडवाकृति होना आदि भी कविसमय है परन्तु इन सच्चाइयों की लोक में परीक्षा करना व्यर्थ है। वे प्रमाणित भी नहीं हो सकेंगे क्योंकि ये केवल कविकर्म के सत्य हैं।

परन्तु आचार्य राजशेखर, क्षेमेन्द्र एवं विश्वनाथ के विवरणों से कविसमय का वृहत् स्वरूप परिलक्षित होता है। राजशेखर की दृष्टि में-

अशास्त्रीयम् अलौकिकञ्च परम्पराऽऽयातं यमर्थमुपनिबध्नन्ति कवयः सः कविसमयः।[3]

---

१. मेघदूतम् उत्तरमेघ-०७

२. स्त्रीणां रागात्प्रियङ्गुर्विकसति बकुलः शीधुगण्डूषसेकात्
पादाघातादशोकस्तिलककुरबकौवीक्षणालिङ्गनाभ्याम् ।
मन्दारो नर्मवाक्यात् पटुमृदुहसनाच्चम्पको वक्त्रवातात्
चूतो गीतान्नमेरुर्विकसति च पुरो नर्तनात्कर्णिकारः।।

३. काव्यमीमांसा, अध्याय-१४

राजशेखर ने कविसमय को स्वर्ग्य, भौम तथा पातालीय के भेद से त्रिविध माना है। इनमें भी मुख्यतम भौम है जिसके चार भेद हैं- जातिरूप, द्रव्यरूप, गुणरूप, क्रियारूप। इनमें भी प्रत्येक के तीन-तीन भेद हैं- सत् का अनुल्लेख, असत् का उल्लेख तथा नियमन।

जो वस्तु विद्यमान है, अस्तित्व में है, उसका भी अनस्तित्व मानना- **सदनुल्लेख** कहा जाता है, जैसे- वसन्त में चमेली का तथा चन्दन में पुष्प का अभाव बताना। उदुम्बर में पुष्प का न आना भी संशयित ही है।

जो वस्तु असत् है, अस्तित्व में नहीं है उसको भी सत्ता में मानकर वर्णित करना **असदुल्लेख** कहा जाता है। जैसे- नदियों में कमल का, मात्र मानसरोवरादि जलाशय में हंसों की स्थिति मानना।

इसी प्रकार सार्वत्रिक व्यवहार को एकत्र नियमित कर देना **नियमन** कहा जाता है, जैसे- समुद्रों में ही मकरों, ताम्रपर्णी नदी में ही मोतियों की उपलब्धि, मलयपर्वत पर ही चन्दन की उत्पत्ति मानना। जब कि ये व्यवहार अन्यत्र भी सम्भव हैं।

काव्यमीमांसा के तीन अध्याय (२४, २५, २६वें) कविसमय में ही पर्यवसित हैं। यह सन्दर्भ इतना विस्तृत एवं विविध है कि 'कविसमय' को अत्यन्त व्यापक बना देता है। कालान्तर में, आचार्य क्षेमेन्द्र ने भी कविकण्ठाभरण एवं सुवृत्ततिलक में इस सन्दर्भ का पल्लवन किया। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने भी ख्यातिविरुद्धता नामक दोष को गुण मानते हुए, कविसमयों का परिगणन तीन शार्दूलविक्रीडित छन्दों में किया है-

मालिन्यं व्योम्नि पापे यशसिधवलता वर्ण्यते हासकीर्त्योः
रक्तौ च क्रोधरागौ सरिदुदधिगतं पङ्कजेन्दीवरादि।
तोयाधारेऽखिलेऽपि प्रसरति मरालादिकः पक्षिसङ्घः
ज्योत्स्ना पेया चकोरैर्जलधरसमये मानसं यान्ति हंसाः।।
पादाघातादशोको विकसति बकुलं योषितामास्यमद्यैः

यूनामङ्गेषु हाराः स्फुटति च हृदयं विप्रयोगस्य तापैः।
मौर्वी रोलम्बमाला धनुरथ विशिखाः कौसुभाः पुष्पकेलेः
भिन्नं स्यादस्य बाणैर्युवजनहृदयं स्त्रीकटाक्षेण तद्वत्।।
अह्न्यम्भोजं निशायां विकसति कुमुदं चन्द्रिका शुक्लपक्षे
मेघध्वानेषु नृत्यं भवति च शिखिनां नाऽप्यशोके फलं स्यात्।
न स्याज्जाती वसन्ते न च कुसुमफले गन्धसारद्रुमाणा-
मित्याद्युन्नेयमन्यत् कविसमयगतं सत्कवीनां प्रबन्धे।।[1]

कविसमय का सैद्धान्तिक व्याख्यान अब समाप्त किया जा रहा है। सङ्क्षेप में यही कहा जा सकता है कि 'कविसमय' लोकोत्तरवर्णनानिपुण कविकर्म का एक ठोस आधार है। कवियों का निरङ्कुश, स्वाभिरुचि-प्रेरित विशिष्ट प्रयोग भी कविसमय है।

कविसमयों का प्रयोग, रहस्यात्मक ढङ्ग से ही सही, वेदमन्त्रों में भी उपलब्ध होता है। मण्डूकसूक्त में टरटराते दर्दुरों को वेदपाठी वटु-समूह बताना, हारे जुआरी को बूढ़े और बिकाऊ घोड़े के रूप में देखना तथा उषा के पीछे आते सूर्य को वधू-वर के रूप में वर्णित करना भी कवि का विशेष आधार ही है। इसे हम कविसमय ही कहेंगे।

आर्षकाव्यों (रामायण-महाभारत) तथा पुराणों में कविता, विकास एवं प्रौढ़ि के शिखर पर है। वाल्मीकि एवं व्यास ने इन कविसमयों का यथास्थान मनोरम प्रयोग किया है। मेरी दृष्टि में एक ही सम्प्रत्यय को अनेक विश्वसनीय दृष्टान्तों से ग्राह्यतम बना देना भी कविसमय ही है। संस्कृत के प्रबन्धों एवं मुक्तकों में यह प्रक्रिया शिखर पर रही है। वाल्मीकिरामायण में रावण द्वारा वैदेही के देखे जाने का अद्भुत वर्णन इस प्रक्रिया का सर्वोत्तम निदर्शन है। रावण ने सीता को यूँ देखा जैसे कोई नाव सागर में डूब रही हो, परन्तु

---

१. साहित्यदर्पणः ७/२३-२५

विपद्ग्रस्त वैदेही की यह दशा एक ही नहीं, प्रत्युत पूरे २९ दृष्टान्तों से व्यक्त की गयी है।

दशग्रीवस्तु वैदेहीं रक्षितं राक्षसीगणैः।
ददर्श दीनां दुःखार्तां नावं सन्नामिवार्णवे।।
असंवृतायामासीनां धरण्यां संशितव्रताम्।
छिन्नां प्रपतितां भूमौ शाखामिव वनस्पतेः।।
मलमण्डनदिग्धाङ्गीं मण्डनार्हाममण्डनाम्।
मृणाली पङ्कदिग्धेव विभाति न विभाति च।।
शुष्यन्तीं रुदतीमेकां ध्यानशोकपरायणाम्।
दुःखस्यान्तमपश्यन्तीं रामां राममनुव्रताम्।।
चेष्टमानामथाविष्टां पन्नगेन्द्रवधूमिव।
धूप्यमानां ग्रहेणेव रोहिणीं धूमकेतुना।।
वृत्तशीले कुले जातामाचारवति धार्मिके।
पुनः संस्कारमापन्नां जातामिव च दुष्कृते।।
सन्तामिव महाकीर्तिं श्रद्धामिव विमानिताम्।
प्रज्ञामिव परिक्षीणामाशां प्रतिहतामिव।।
आयतीमिव विध्वस्तामाज्ञां प्रतिहतामिव।
दीप्तामिव दिशं काले पूजामपहतामिव।।
पौर्णमासीमिव निशां तमोग्रस्तेन्दुमण्डलाम्।
पद्मिनीमिव विध्वस्तां हतशूरां चमूमिव।।
प्रभामिव तमोध्वस्तामुपक्षीणामिवापगाम्।
वेदीमिव परामृष्टां शान्तामग्निशिखामिव।।
उत्कृष्टपर्णकमलां वित्रासितविहङ्गमाम्।
हस्तिहस्तपरामृष्टामाकुलामिव पद्मिनीम्।।

पतिशोकातुरां शुष्कां नदीं विस्राविताामिव।
परया मृजया हीनां कृष्णपक्षे निशामिव।।
सुकुमारीं सुजाताङ्गीं रत्नगर्भगृहोचिताम्।
तप्यमानामिवोष्णेन मृणालीमचिरोद्धृताम्।।
गृहीतां लाडितां स्तम्भे यूथपेन विनाकृताम्।
निः श्वसन्तीं सुदुःखार्तां गजराजवधूमिव।।
एकया दीर्घया वेण्या शोभमानामयत्नतः।
नीलया नीरदापाये वनराज्या महीमिव।।
उपवासेन शोकेन ध्यानेन च भवेन च।
परिक्षीणां कृशां दीनामल्पाहारां तपोधनाम्।।[1]

कालिदास के मनोरम कविसमयात्मक प्रयोग, इन्हीं आर्षकाव्यों की परम्परा में हैं। रक्ताशोक तथा केसर (बकुल) ये दोनों पादप 'दोहद' के बहाने नायिका (यक्षिणी) को पादाघातादि तथा वदनमदिरा के अभिलाषी हैं-

रक्ताशोकश्चलकिसलयः केसरश्चात्रकान्तः
प्रत्यासन्नौ कुरबकवृतेर्माधवीमण्डपस्य।
एकः सख्यास्तव सह यथा वामपादाभिलाषी
काङ्क्षत्यन्यो वदनमदिरां दोहदच्छद्मनाऽस्याः।।[2]

हर्षदेव-प्रणीत रत्नावलीनाटिका में भी सागरिका के आलिङ्गनमात्र से आम्रवृक्ष के मञ्जरित होने का वर्णन है।

परन्तु संस्कृत का मुक्तक काव्य-वाङ्मय इस दृष्टि से अधिक समृद्ध परिलक्षित होता है। मुक्तक क्या है? पूर्व एवं पर सन्दर्भों से सर्वदा मुक्त, स्वयं में परिपूर्ण पद्य को मुक्तक कहते हैं। संस्कृत का सम्पूर्ण स्तोत्र-साहित्य,

---

१. रामायणम्, सुन्दरकाण्ड-१९/४-२०

२. मेघदूतम् उत्तरमेघ- १५

अन्योक्ति-साहित्य तथा नीति, वैराग्य एवं शृङ्गारादि का साहित्य प्रायः मुक्तकों में ही निबद्ध है। आचार्य अभिनवगुप्त तो मुक्तकों का अस्तित्व प्रबन्धकाव्य के बीच में भी मानते हैं तथा उसको उदाहृत भी करते हैं। आनन्दवर्धन तो अमरूशतक के मुक्तकों को प्रबन्ध के समकक्ष प्रतिष्ठा देते हैं।

इन प्रबन्धेतर अर्थात् मुक्तक काव्यों में कविसमय अथवा मोटिफ के सैकड़ों रूप प्रयुक्त हुए हैं।

आलेख के प्रारम्भ में मैंने सिंह के प्रणयशिथिल होते ही वन में उभरी अराजकता का विवरण दिया था। किसी भी तथ्य को प्रभविष्णु ढङ्ग से कहने की यह एक कला है जो कवि का आधार मानी जायेगी। परिमल नामक किसी कवि का मुक्तक भी इसी प्रकार का है-

यत्पादा विधृता न केन शिरसा पृथ्वीभृतां मध्यत-
स्तस्मिन् भास्वति राहुणा कवलिते लोकत्रयीचक्षुषि।
खद्योतैः स्फुरितं तमोभिरुदितं ताराभिरुज्जृम्भितम्
घूकैरुत्थितमाः किमत्रकरवै किं केन नो चेष्टितम्।।[1]

सारी की सारी अन्योक्तियाँ कविसमय की ही परिणति हैं क्योंकि इनमें मोटिफ (out standing feature) है। जिस पादाहत क्षुद्र धूलि को पवन उठा कर नक्षत्रमण्डित आकाश में पहुँचा देता है वह उसी को बवण्डर बना देता है।

कोऽयं भ्रान्तिप्रकारस्तव पवन पदं लोकपादाहतानां
तेजस्विव्रातसेव्ये नभसि नयसि यत्पांसुपूरं प्रतिष्ठाम्।
अस्मिन्नुत्थाप्यमाने जननमनपथोपद्रवस्तावदास्तां
केनोपायेन सह्यो वपुषि कलुषतादोष एष त्वयैव।।[2]

राजहंस का नीर-क्षीर विवेक भी एक प्रख्यात कविसमय है। मुक्तकों में इसका प्रयोग भूरिशः मिलता है। भर्तृहरि कहते हैं-

---

१. शार्ङ्गधर. पृ. ११५
२. भल्लटशतकम् ९९

अम्भोजिनीवननिवासविलासमेव
हंसस्य हन्ति नितरां कुपितो विधाता।
न त्वस्य दुग्धजलभेदविधौ प्रसिद्धां
वैदग्ध्यकीर्तिमपहर्तुमसौ समर्थः।।[1]

वर्षा के आते ही राजहंसों का मानसरोवर को लौट जाना भी कविसमय ही है, न कि लोकसिद्ध यथार्थ। कालिदास ने उत्तरमेघ में इसकी प्रकारान्तर से चर्चा की है-

यस्यास्तोये कृतवसतयो मानसं संन्निकृष्टं
नाध्यास्यन्ति व्यपगतशुचस्त्वामपि प्रेक्ष्य हंसाः।[2]

मुक्तकों में भी हंसों का यह मानस-प्रेम निरूपित हुआ है-

अस्ति यद्यपि सर्वत्र नीरं नीरजमण्डितम्।
रमते न मरालस्य मानसं मानसं विना।।
नद्यो नीचरता दुरापपयसः कूपाः पयोराशयः
क्षाराः दुष्टबकोटसङ्कटतटोद्देश्यस्तडागादयः।
भ्रान्त्वा भूतलमाकलय्य सकलानम्भोनिवेशानिति
त्वां ओ मानस संस्मरन् पुनरसौ हंसः समभ्यागतः।।[3]

कौवे को काण (काना) कहने की परम्परा त्रेतायुग से ही चली आ रही है, परन्तु क्या सचमुच कौवा काना होता है? कतई नहीं। भगवान् राम ने काक रूपधारी इन्द्रपुत्र जयन्त को, उसकी धृष्टता के कारण अवश्य ही काण बना दिया था। वही घटना कविसमय बनकर रचनाकर्म में अभी तक चली आ रही है-

---

१. नीतिशतक २.१५
२. मेघदूतम् उत्तरमेघ- १३
३. शार्ङ्गधर- पृ. १२७

पथि निपतितां शून्ये दृष्ट्वा निरावरणाननां
दधिभृतघटीं गर्वोन्नद्धः समुन्नतकन्धरः।
निजसमुचितास्तास्ताश्चेष्टा विकारशताकुलो
यदि न कुरुते काणः काकः कदा नु करिष्यति?[1]

चन्दनवृक्ष का पुष्प-फलविरहित होना भी एक प्रसिद्ध कविसमय है-

यद्यपि चन्दनविटपो विधिना फलकुसुमवर्णितो विहितः।
निजवपुषैव परेषां तथापि सन्तापमपनयति।।
भ्रातश्चन्दन! किं ब्रवीषि विकटस्फूर्णत्फणा भीषणा
गन्धस्यापि महाविषाः फणभृतो गुप्त्यै यदेते कृताः।
दैवात्पुष्पफलान्वितो यदि भवानत्राभविष्यत्तदा
नो जाने किमकल्पयिष्यदधिकं रक्षार्थयस्यात्मनः।।[2]

वाडवाग्नि की चर्चा प्रारम्भ में ही की जा चुकी है। मुक्तककारों ने नाना प्रकार से इस कविसमय की चर्चा की है-

आदाय वारि परितः सरितां मुखेभ्यः
किं तावदर्जितमनेन दुरर्णवेन?
क्षारीकृतं च वडवावदने हुतं च
पातालकुक्षिकुहरे विनिवेशितं च।।[3]

एक अन्य मुक्तक में यही तथ्य प्रकारान्तर से निबद्ध है-

अये वारां राशेः कुलिशकरकोपप्रतिभया-
दयं पक्षप्रेम्णा गिरिपरिवृढस्त्वामुपगतः।

---

१. सूक्तिमुक्तावली- १७.६
२. श्रीभोजदेवः, शार्ङ्गधर- पृ. १५८
३. श्रीशुकः, शार्ङ्गधर- पृ. १०६

त्वदन्तर्वास्तव्याद् यदि पुनरयं वाडवशिखी
प्रदीप्तः प्रत्यङ्गं ग्लपयति ततः कोऽस्य शरणम्।।[1]

जब कोई कवि किसी तथ्य को वर्णित करते समय, उसके स्रोतोभूत समस्त साधनों को एकत्र कर देता है तो उस तथ्य की मार्मिकता बढ़ जाती है। कुटीर की छत का जर्जर होना, दिये की कुप्पी में तेल का चुकना, घर में भोज्य सामग्री का न होना, बहू का आसन्नप्रसवा होना तथा भयावह वर्षा ऋतु का सिर पर मँडराना- ये सब यदि एक ही झुग्गी-झोपड़ी में इकट्ठे हो जायें तो क्या उससे बड़ी किसी दरिद्रता और विपत्ति की कल्पना की जा सकती है? लोक में भले ही ये सारी घटनायें एकत्र न घटें, परन्तु काव्य में सहज सम्भव हैं। मुक्तकों में ऐसे ही हृदयदाही दैन्य-दारिद्र्य का चित्रण है-

वृद्धोऽन्धः पतिरेष मञ्चकगतः स्थूणावशेषं गृहं
कालोऽभ्यर्णजलागमः कुशलिनी वत्सस्य वार्तापि नो।
यत्नात् सञ्चिततैलबिन्दुघटिका भग्नेति पर्याकुला
दृष्ट्वा गर्भभरालसां सुतवधूं श्वश्रूश्चिरं रोदिति।।[2]

भवायह धारासार वर्षा में दरिद्र पामर-गृहिणी की मार्मिक कथा का चित्रण एक मुक्तक में द्रष्टव्य है-

सक्तूञ्छोषयति प्लुतान्प्रतिकरोत्याक्रन्दतो बालकान्
प्रत्यासिञ्चति कर्परेण सलिलं शय्यातृणं रक्षति।
धृत्वा मूर्ध्नि पुराणशूपशकलं शून्ये गृहे व्याकुला
किं तद्यन्न करोति दुर्गतवधूर्देवे भृशं वर्षति।।[3]

कोई दरिद्र कवि राजा से याचना कर रहा है-

---

१. शार्ङ्गधरपद्धतिः- १०९५

२. भोजप्रबन्ध- २५५

३. सुभाषितावली- ३२०१

पीठाः कच्छपवत्तरन्ति सलिले, सम्मार्जनी मीनवत्
दर्वी सर्मविचेष्टितानि कुरुते सन्त्रासयन्ती शिशून्।
शूर्पार्धावृतमस्तका च गृहिणी भित्तिः प्रपातोन्मुखी
रात्रौ पूर्णतडागसंनिभमभूद् राजन् मदीयं गृहम्।।[१]

चोरी के उद्देश्य से किसी पुराने घर में घुसा चोर दम्पती की वार्ता सुनता है। पत्नी कहती है- या तो ओढ़ना मुझे दे दो या फिर बच्चे को अपनी गोद में ले लो। स्वामी! मेरे नीचे की जमीन उघाड़ है और आपके पास पुआल का ढेर है। दरिद्र पति-पत्नी की ये बातें सुन चोर चोरी किये गये कपड़े उनके ऊपर फेंक कर, रोता हुआ घर से बाहर निकल गया-

वासः खण्डमिदं प्रयच्छ यदि वा स्वाङ्के गृहाणार्भकं
रिक्तं भूतलमत्र नाथ भवतः पृष्ठे पत्रालोच्चयः।
दम्पत्योरिति जल्पितं निशि यदा चौरः प्रविष्टस्तदा
लब्धं कर्पटमन्यतस्तदुपरि क्षिप्त्वा रुदन्निर्गतः।।[२]

ऐसे अनन्त मुक्तक हैं जिनमें कवियों की विलक्षण वाक्पटुता तथा धी-वैभव प्रकट हुआ है। परन्तु इस प्रतिभा-पाटव का चरम-निदर्शन अभी भी अवशेष है। मेरी दृष्टि में वास्तविक कविसमय वही है जहाँ कवि अचेतन में भी चैतन्य का दर्शन करता है। एक सामान्य सा सन्दर्भ है- पकी हुई धान की फसल के कटने का। एक अन्य सामान्य सा सन्दर्भ है- मादक वसन्त ऋतु में महुवा के फूल झरने का। परन्तु इन दोनों घटनाओं को कवि की आँखें कैसे देखती हैं, यह अवधेय है।

मधूक वृक्ष वसन्त के दिनों में पूर्णतः निष्पत्र हो जाता है। इस स्थिति से परिचित कवि, महुवे को वाणी दे रहा है- हाय! भयावह ग्रीष्म में जिन्होंने मध्याह्न सूर्य का ताप झेला, धारासार वर्षा में वर्षा झेली और ठिठुरती शीत में

---

१. सुभाषितावली- ७१
२. सुभाषितावली- ७०

जिन्होंने सारी ठंड सही। आज जब मेरे फल का समय आया तो मेरे प्रिय पत्रगण मेरे साथ नहीं हैं। मानो यही सोच-सोच कर, मधूकवृक्ष पश्चात्ताप-विद्ध होकर मोती जैसे बड़े-बड़े अश्रुबिन्दु टपकाता रो रहा है-

तत्तेजस्तरणेर्निदाघसमये तद्वारि मेघागमे
तज्जाड्यं शिशिरे मदेकशरणैः सोढं पुरा यैर्दलैः।
आयातोऽप्यधुना फलस्य समयः कोऽयं विना तैरिति
स्मृत्वा तानि शुचेव रोदिति गलत्पुष्पैर्मधूकद्रुमः।।[1]

वस्तुतः अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा- प्रतिभा का धनी कवि जिस दृष्टि से किसी वस्तु की समीक्षा करता है वह **कविदृष्टि** ही वास्तविक कविसमय है। कीड़ों से युक्त सड़े आम के फल में भी कवि दुर्विवेक एवं कृतघ्नता को देख लेता है। यह भाव पण्डितराज जगन्नाथ के एक मुक्तक से स्पष्ट हो जाता है-

येऽमी आम्रकुलोद्गमात्प्रतिदिनं त्वामाश्रिताः षट्पदाः
ते भ्राम्यन्ति फलाद् बहिः कथमहो दृष्ट्वा न सम्भाषसे।
ये कीटास्तव दृक्पथं न च गतास्ते त्वत्फलाभ्यन्तरे
धिक्त्वां चूततरोः यदाऽपरपरिज्ञानाऽनभिज्ञो भवान्।।[2]

१. सुभाषितरत्नभाण्डागारम्- २४१.१४९
२. पण्डितराज, पृ.१५२

श्रीलङ्का में बौद्ध परम्परा का विकास

डॉ. अरुणा शुक्ला
उपाचार्या, संस्कृत विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय

बौद्ध धर्म का उद्भव भारत में हुआ। आगे चलकर इसका प्रचार-प्रसार विदेशों में भी अत्यधिक तेजी से हुआ। भारत के बाहर बौद्ध धर्म के प्रचार का अपना पृथक् इतिहास है। सर्वप्रथम बौद्ध धर्म से प्रभावित होकर सम्राट् अशोक ने इस धर्म के प्रचार-प्रसार का कार्य प्रारम्भ किया। धर्म प्रचार की भावना से प्रेरित होकर इन्होंने सर्वप्रथम अपने पुत्र महेन्द्र और पुत्री सङ्घमित्रा को श्रीलङ्का भेजा।[१] उसी समय से श्रीलङ्का में बौद्ध धर्म का विकास स्थविरवादी परम्परा के रूप में होने लगा। श्रीलङ्का में बहुत से बौद्ध स्थल हैं जो स्थविरवाद के केन्द्र हैं। बौद्ध साहित्य की रचना भी लङ्का द्वीप में प्रचुर मात्रा में हुई। यहाँ पर बौद्ध विद्वानों का जन्म भी हुआ। बहुत से विद्वानों ने भारत से जाकर श्रीलङ्का में बौद्ध साहित्य को विकसित किया, तो कुछ विद्वानों ने श्रीलङ्का में जन्म लेकर बौद्ध साहित्य को विरचित किया। बौद्ध धर्म से प्रभावित होकर बहुत से राजा इस धर्म को अपनाकर बौद्ध धर्म के अनुयायी हो गये और इन राजाओं ने श्रीलङ्का में बौद्ध स्तूपों एवं विहारों का निर्माण कराया। इस प्रकार लङ्काद्वीपीय स्थल बौद्ध धर्म के विकास में अग्रणी रहा है।

श्रीलङ्का में बौद्ध परम्परा के विकास का अवलोकन निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर किया जा सकता है-

---

१. महामहिन्दथेरो सो तदा द्वादस वस्सिको।
उपज्झायेन आणत्तो सङ्घेन च महामति।।१।।
लङ्कादीपं पसादेतुं कालं पेक्खं विचिन्तयि।
बुड्ढो मुटसिवो राजा, राजा होतु सुतो" इति।।२।। महावंस, तेरसमो परिच्छेदो, पृष्ठ-१८८

१. श्रीलङ्का में बौद्ध साहित्य
२. श्रीलङ्का में बौद्ध विद्वान्
३. श्रीलङ्का में बौद्ध स्थल
४. श्रीलङ्का में बौद्ध प्रचारक
५. श्रीलङ्का में बौद्ध राजा
६. श्रीलङ्का में बौद्ध स्तूप
७. श्रीलङ्का में थेरवाद
८. श्रीलङ्का में बौद्ध धर्म का ह्रास

श्रीलङ्का में बौद्ध साहित्य

श्रीलङ्का में बौद्ध साहित्य के निम्नलिखित ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं-

१. महाअट्ठकथा (सुत्तपिटक की अट्ठकथा- सम्पूर्ण निकायों पर)[1]
२. कुरुन्दी (विनयपिटक की अट्ठकथा)[2]
३. महापच्चरी (अभिधम्मपिटक की अट्ठकथा)[3]
४. अन्धक अट्ठकथा
५. संखेप अट्ठकथा
६. ञाणोदय
७. विसुद्धिमग्ग[4]

---

१. सद्धम्मसङ्ग्रह में 'महाअट्ठकथा' को सुत्तपिटक के पाँच निकायों की अट्ठकथा कहा गया है- द्रष्टव्य-
"सुत्तन्तपिटके महाअट्ठकथा सीहलभासं परिवत्तेत्वा, सुमंगलविलासिनी" नाम दीघनिकायट्ठकथं च उपेसि।"
डॉ. भगत सिंह उपाध्याय, पालि साहित्य का इतिहास, पाद टिप्पणी सं. १, पृष्ठ- ५७९

२. सद्धम्मसङ्ग्रह के अनुसार 'कुरुन्दी' विनयपिटक की अट्ठकथा थी-
"बुद्धघोसो कुरुन्दकट्ठकथं, सीहलभासं परिवत्तेत्वा मूलभासाय मागधिकाय निरुत्तिया समन्तपासादिका नाम विनयट्ठ कथा अकासि।"
पालि साहित्य का इतिहास, पाद टिप्पणी सं. ३, पृष्ठ- ५७९

३. 'सद्धम्मसङ्ग्रह' के अनुसार महापच्चरी अभिधम्मपिटक की अट्ठकथा थी-
"अभिधम्मपिटके महापच्चरियट्ठकथा सीहलभासं परिवत्तेत्वा मूलभासाय मागधिकाय निरुत्तिया अट्ठसालिनी नाम धम्मसङ्गणि अट्ठकथं च ठपेसि।"
पालि साहित्य का इतिहास, पाद टिप्पणी सं. ३, पृष्ठ- ५७९

४. सम्पादक- स्वामी द्वारिकादासशास्त्री, बौद्धभारती, वाराणसी-१९९२

८. समन्तपासादिका- विनय अट्ठकथा[1]

९. करवावितरणी- पातिमोक्ख अट्ठकथा[2]

१०. सुमङ्गलविलासिनी- दीघनिकाय अट्ठकथा[3]

११. पपञ्चसूदनी- मज्झिम निकाय अट्ठकथा[4]

१२. सारत्थपकासिनी- संयुत्तनिकाय अट्ठकथा

१३. मनोरथपूरणी- अङ्गुत्तर निकाय[5]

१४. परमत्थजोतिका- खुद्दक निकाय के खुद्दक पाठ तथा सुत्तनिपात की अट्ठकथा[6]

१५. जातकट्ठकथा[7]

१६. अट्ठसालिनी-धम्मसङ्गणि की अट्ठकथा[8]

---

१. 'समन्तपासादिका नाम विनयट्ठकथा' - श्री बीरबल शर्मा, एम.ए. द्वारा देवनागरी लिपि में तीन भागों में सम्पादित, नव नालन्दा महाविहार द्वारा प्रकाशित- १९६४, १९६५, १९६७ ई०। सिंहली लिपि में यह अट्ठकथा समन्त पासादिका नाम विनयत्थसंवण्णना" शीर्षक से पञ्ञालोकासभ द्वारा सम्पादित, कोलम्बो, १९१७। रोमन लिपि में चार जिल्दों में जे. तकाकुस तथा एम. नगई द्वारा सम्पादित, पालि टेक्स्ट् सोसायटी संस्करण। समन्तपासादिका के बरमी तथा स्यामी संस्करण भी उपलब्ध हैं।
पालि साहित्य का इतिहास, पाद टिप्पणी सं.२, पृष्ठ- ६०८-६०९

२. 'करवावितरणी नाम मातिकट्ठकथा' शीर्षक से जिनरतन थेर द्वारा सिंहली लिपि में सम्पादित। साइमन हेववितरणे दातव्य निधि ग्रन्थमाला, संख्या-३०, कोलम्बो, बुद्धाब्द २४७४ (सन् १९३० ई०)।
पालि साहित्य का इतिहास, पाद टिप्पणी सं. १, पृष्ठ- ६०९

३. संशोधक- डॉ. नथमलटाटिया, नवनालन्दामहाविहार, नालन्दा (बिहार) १९७६

४. पालि साहित्य का इतिहास, पाद टिप्पणी सं. १, पृष्ठ- ६११

५. दो भागों में साइमन हेववितरणे दातव्य निधि ग्रन्थमाला में प्रकाशित सम्पादक-धम्मकित्तिसिरि, धम्मानन्द, १९३१ ई०
पालि साहित्य का इतिहास, पाद टिप्पणी सं. २, पृष्ठ- ६१२

६. तदेव, पाद टिप्पणी सं. १, पृष्ठ- ६१५

७. तदेव, पाद टिप्पणी सं. ३, पृष्ठ- ६१६

८. संशोधक- प्रो. रामशङ्कर त्रिपाठी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९८९

१७. सम्मोहविनोदनी-विभङ्ग की अट्ठकथा[1]

१८. पञ्चप्पकरणट्ठकथा-धम्मसङ्गणि तथा विभङ्ग को छोड़कर सम्पूर्ण अभिधम्म पिटक की अट्ठकथा

१९. धम्मपद-अट्ठकथा[2]

२०. दीपवंस[3]- श्रीलङ्का का ऐतिहासिक ग्रन्थ है।

२१. लिपिबद्ध त्रिपिटक

२२. महावंस[4] यह भी श्रीलङ्का का ऐतिहासिक ग्रन्थ है।

२३. अनागतवंस[5]

२४. सिंहलवत्थु कथा[6]

२५. चान्द्रव्याकरण[7]

२६. रत्नमति पञ्जिका[8]

२७. पञ्जिकालङ्कार[9]

२८. पदावतार

---

१. प्रधान संशोधक- प्रो. एस. मुखर्जी, नव नालन्दा महाविहार, नालन्दा, पटना, १९६१

२. पालि साहित्य का इतिहास, पाद टिप्पणी सं. २, पृष्ठ- ६१५

३. तदेव, पाद टिप्पणी सं. १, पृष्ठ- ६५६

४. तदेव, पाद टिप्पणी सं. २, पृष्ठ- ६६१
सम्पादक-डॉ. परमानन्द सिंह, बौद्ध आकर ग्रन्थमाला, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी, १९९६

५. पालि साहित्य का इतिहास, पाद टिप्पणी सं. १, पृष्ठ- ७१५
इसका उल्लेख राहुल सांकृत्यायन द्वारा लिखी गयी पुस्तक पालि साहित्य का इतिहास में पृष्ठ सं. २०० पर हुआ है।

६. तदेव, पृष्ठ- २०१

७. तदेव, पृष्ठ- २०३

८. तत्रैव

९. तत्रैव

२९. 'पालिमुत्तकविनयविनिच्छय'- महावंस में इसे 'विनयविनिच्छय' कहा गया है।

३०. विभाविनी टीका

३१. विनयसङ्ग्रह- योगियों के उपकार के लिए रचा गया ग्रन्थ है।

३२. लीनत्थपदवण्णना- 'विनयसङ्ग्रह' की टीका है।

३३. विसुद्धपथसङ्गह- अरण्यवासी भिक्षुओं के लिए रचा गया ग्रन्थ है।

३४. कम्मट्ठानसङ्गह- कर्मस्थानिक भिक्षुओं के लिए लिखा गया ग्रन्थ है।

३५. चन्द्रगोमी के अभिधान की 'पञ्जिका'

३६. अलङ्कार- चन्द्रगोमी के अभिधान की पञ्जिका की व्याख्या।

३७. सम्पसादनी

३८. विनयट्ठकथा

३९. अङ्गुत्तर निकायट्ठकथा की टीका

४०. मङ्गलसुत्त अट्ठकथा की टीका

४१. 'अभिधम्मत्थसङ्गहो के शङ्का निवारण के लिए एक ग्रन्थ सिंहली भाषा में लिखा गया।

४२. कच्चायन व्याकरण[१]

४३. मोगगलान व्याकरण

४४. अभिधानप्पदीपिका - यह कोश ग्रन्थ है।[२]

४५. बुद्धदत्तधातुवंस- यह ऐतिहासिक ग्रन्थ है।

४६. खेमप्पकरणटीका

---

१. पालि साहित्य का इतिहास, पाद टिप्पणी सं. १, पृष्ठ- ७३५
सम्पादक- प्रो. लक्ष्मी नारायण तिवारी, तारा बुक एजेन्सी, कामच्छा, वाराणसी-१९८९

२. पालि साहित्य का इतिहास, पाद टिप्पणी सं. २, पृष्ठ- ७५२

४७. उत्तरविनिच्छय

४८. विनयविनिच्छय

४९. रूपारूपविभाग (४६ से ४९ तक ये चारों ग्रन्थ बड़े वाचिस्सर की रचना हैं।)

५०. थूपवंस[1]

५१. महाबोधिवंस[2]

५२. विनयत्थसमुच्चय

५३. पदसाधन की टीका

५४. खुद्दकसिक्खा की टीका

५५. अभिधम्म मूल टीका

५६. सद्धम्मोपायन

५७. भेसज्जमञ्जूसा (पालि)

५८. भेसज्जमञ्जूसा (सिंहली अनुवाद)

५९. सिक्खाबलन्द

६०. सिक्खापदवलञ्जानि

६१. हत्थवन-गल्लविहारवंस

६२. जिनचरित (एक छोटी सी काव्य पुस्तिका)[3]

६३. पयोगसिद्धि (व्याकरण का ग्रन्थ)

६४. पज्जमधु[4]

---

१. पालि साहित्य का इतिहास, पादटिप्पणी सं. ४, पृष्ठ- ६८१

२. तदेव, पादटिप्पणी सं. १, पृष्ठ- ६८०

३. तदेव, पादटिप्पणी सं. १, पृष्ठ- ७२३

४. तदेव, पादटिप्पणी सं. ४, पृष्ठ- ७२५

६५. रूपसिद्धि

६६. सुबोधालङ्कार[1]

६७. वुत्तोदय[2]

६८. खुद्दकसिक्खा टीका

६९. सुसद्दसिद्धि

७०. मोग्गलान पञ्जिका टीका

७१. सम्बन्ध चिन्ता

७२. योगविनिच्छय (६६-७२ ये सातों संघरक्खित की रचना हैं)

७३. समन्तकूटवण्णना

७४. रसवाहिनी[3]

७५. सिदतसङ्गरा (सिद्धान्तसंग्रह-सबसे प्राचीन व्याकरण ग्रन्थ)
७३-७५ ये तीनों बेदेह की रचना है।

७६. सारत्थसङ्गह (१२७७-१२८८ ई.)

७७. सद्धम्मालङ्कार (चौदहवीं सदी की रचना)

७८. संखेप

७९. निकाय सङ्गह

८०. बालावतार

८१. जिनबोधावली

८२. सळलिहिणि

---

१. पालि साहित्य का इतिहास, पादटिप्पणी सं. ५, पृष्ठ- ७५५

२. तदेव, पादटिप्पणी सं. २, पृष्ठ- ७५४

३. तदेव, पादटिप्पणी सं. १, पृष्ठ- ७२९

८३. परविसन्देश

८४. काव्यशेखर (राहुल संघराज का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ है)

८५. सीमासङ्कर छेदनी

८६. तोटगमुनिमित्त

८७. चतुरार्यसत्यकाव्य

८८. मोग्गल्लानपञ्जिका प्रदीप

८९. पदसाधन टीका

९०. पञ्जिका प्रदीप- १८९६ ई. में इसका सम्पादन धम्माराम नायक महाथेर के द्वारा हुआ। (७८ से ९० तक देवरक्खित धम्मकित्ति की रचनाएँ हैं)

९१. वुत्तमाला-सन्देश-सतक

९२. अभिसम्बोधि-अलङ्कार

९३. तिरतन माला

९४. 'मिलिन्दपन्ह' का सिंहली अनुवाद

९५. पालिकाव्य धारा (राहुल सांस्कृत्यायन का सङ्कलन)

९६. सासनवंसदीप[1] (बौद्ध धर्म का ऐतिहासिक ग्रन्थ)

९७. सुमङ्गलचरित

९८. जिनवंसदीप[2]

---

१. इसका उल्लेख पा.सा.इ., राहुल जी सांस्कृत्यायन में हुआ है, जिसके लेखक विमलसार तिस्स बताये गये हैं। पृष्ठ २५४ पालि साहित्य का इतिहास, डॉ. भगत सिंह उपाध्याय में 'सांसनवंस' नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है, जिसके रचयिता 'पञ्चसामि' बताये गये हैं। पृष्ठ-७०१, अतः इससे स्पष्ट होता है कि सांसनवंसदीप और सासनवंस ये दोनों अलग-अलग ग्रन्थ हैं।

२. इसका उल्लेख पालि साहित्य का इतिहास, पं. राहुल सांस्कृत्यायन में हुआ है। पृष्ठ-२५५

९९. महाकस्सपचरित

१००. महानेक्खम्मचम्पू

१०१. कमलाञ्जलि

१०२. एकक्खरकोस व्याख्या

१०३. कच्चायनसार व्याख्या

१०४. निरुत्तिरतनाकर

१०५. मोहमुद्गर

१०६. कारिका व्याख्या

१०७. धम्मारामसाधुचरित

१०८. मनोरथपूरणी[३]

१०९. भत्तिमालिनी

११०. मुनिन्दापदान

१११. उपासक जनालङ्कार

श्रीलङ्का में बौद्ध विद्वान्

श्रीलङ्का में बौद्ध विद्वानों की संख्या भी बहुत है। कुछ विद्वानों ने भारत से सिंहलद्वीप में जाकर बौद्ध साहित्य की रचना की। कुछ ने सिंहल में जन्म लेकर बौद्ध धर्म से सम्बन्धित विषयों पर अपनी कृतियों की रचना कर बौद्ध साहित्य को समृद्ध बनाया। बुद्धघोष, बुद्धदत्त तथा धम्मपाल आदि आचार्य भारत से श्रीलङ्का गये और वहाँ सिंहली अट्ठकथाओं का पालि रूपान्तर किया। इस प्रकार से इन आचार्यों द्वारा रचित अट्ठकथाओं के आधार स्रोत ये सिंहल अट्ठकथायें ही हैं। आचार्य बुद्धघोष ने अपनी विभिन्न अट्ठकथाओं में इनका

---

३. डॉ. भगत सिंह उपाध्याय, पालि साहित्य का इतिहास, पाद टिप्पणी सं. २, पृष्ठ- ६१२

निर्देश भी किया है। श्रीलङ्का में बौद्ध विद्वान् के रूप में प्रख्यात हुए विद्वानों की सूची इस प्रकार है-

१.	बुद्धघोष	२.	बुद्धदत्त
३.	धम्मपाल	४.	धम्मनन्दी
५.	सारिपुत्र	६.	कस्सप चोळिय
७.	सुमङ्गलमहासामी	८.	मोग्गल्लान
९.	धम्मकित्ति	१०.	बड़े वाचिस्सर
११.	छोटे वाचिस्सर	१२.	मेघङ्कर उदुम्बर गिरि
१३.	सङ्घरक्खित	१४.	आनन्दवनरतन
१५.	कवि चक्रवर्ती आनन्दमहाथेर	१६.	सङ्घराज सरणङ्कर
१७.	अनोमदस्सी	१८.	वनरतन मेघङ्कर
१९.	बुद्धप्पिय दीपङ्कर	२०.	वनरतन आनन्द
२१.	सिद्धत्थ	२२.	वेदेह
२३.	धम्मकित्ति	२४.	देवरक्खित धम्मकित्ति
२५.	सुभूति	२६.	राहुलसङ्घराज
२७.	गतारउपतपस्सी	२८.	सरणङ्कर सङ्घराज
२९.	गिनेगथ	३०.	हीनटिम्बुरे सुमङ्गल
३१.	मोहोट्टिवत्ते गुणानन्द	३२.	धम्माराम (करतोट)
३३.	धम्माराम (यात्रामुल्ले)	३४.	अत्थदस्सी (वेन्तर)
३५.	सुमङ्गल (हिक्कडुव)	३६.	धम्माराम (रतनमलान)
३७.	विमलसार तिस्स	३८.	रतनजोति (मातले)
३९.	मेघानन्द (मोरटुवे)	४०.	पियतिस्स (विदुरपल)

४१. ञाणतिलक (वेलितोटू)
४२. विमलकित्ति (अहुनगल्ल)
४३. पञ्ञानन्द (यागिरल)
४४. धम्माराम (यक्कडुव)
४५. पञ्ञाकित्ति (कोटहेने)
४६. जिनवंस (मिगमुवे)
४७. सुमङ्गल (गोवुस्स)

श्रीलङ्का में बौद्ध स्थल

श्रीलङ्का में निम्नलिखित बौद्ध स्थल द्रष्टव्य हैं-

१. अनुराधपुर में 'महाविहार'

२. पोलन्नरुव (पुलस्तिनगर) में जेतवन विहार, जो महाभुज राजा पराक्रमबाहु द्वारा निर्मित है।

३. जम्बुद्रोणि में विजयबाहु द्वारा निर्मित 'विजय सुन्दराराम' है।

४. कोलम्बो के बाहर केलनिया नामक स्थान में 'विद्यालङ्कार परिवेण' है। बाद में इसे विश्वविद्यालय होने का गौरव प्राप्त हुआ।

५. विद्योदय परिवेण

६. उडुवर नामक प्रसिद्ध ग्राम में 'सुधम्मावास' नामक शुभ परिवेण की स्थापना हुई।

७. सोमादेवी के नाम से 'सोमाराम' नामक विहार बनवाया गया।[१]

८. महास्तूप के उत्तर की तरफ एक ऊँचे स्थान पर 'सिलासोभ्भकटक' नाम का चैत्य बनाया गया।[२]

९. उत्तिय नामक योद्धा ने नगर की दक्षिण दिशा में 'दक्षिण विहार' बनवाया।[३]

---

१. महावंस, तेतीसवाँ परिच्छेद, पृष्ठ- ५०४
२. तदेव, पृष्ठ-५०६
३. तदेव, तेतीसवाँ परिच्छेद, पृष्ठ-५०६

१०. मूल नामक आमात्य ने 'मूलवोकासविहार' बनवाया।[१]

११. पर्वत नामक आमात्य ने 'पर्वताराम विहार' बनवाया।[२]

१२. तिष्य नामक आमात्य ने उत्तर तिष्याराम विहार का निर्माण कराया।[३]

१३. अभयगिरि नामक विहार अनुराधपुर में बनवाया गया।[४]

श्रीलङ्का में पालि का पठन-पाठन बहुत बढ़ा हुआ है। भिक्षु तो पालि में दक्षता प्राप्त करना ही चाहते हैं, गृहस्थ भी उससे वञ्चित नहीं हैं। विद्यालङ्कार और 'विद्योदय' ये दोनों विश्वविद्यालय विशेषकर इसी उद्देश्य से स्थापित किये गये हैं जिनमें पालि के अध्ययन पर ध्यान दिया जाता है।

श्रीलङ्का में बौद्ध धर्म प्रचारक

बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए राजा अशोक ने सर्वप्रथम अपने पुत्र महेन्द्र तथा पुत्री सङ्घमित्रा को बोधिवृक्ष के साथ श्रीलङ्का भेजा। तभी से श्रीलङ्का में बौद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार होने लगा। कालान्तर में श्रीलङ्का के ही सरणङ्कर सङ्घराज ने अध्ययन पूर्ण होने पर धर्म के सन्देश का प्रचार बड़ी लगन के साथ सम्पन्न किया और इसके लिए देश के सुदूर भागों की भी यात्रा की। साथ ही श्रोताओं का क्या कर्त्तव्य है तथा उन्हें इसकी पूर्ति के लिए क्या करना चाहिए इस सम्बन्ध में भी इन्होंने अपने उपदेश दिये। ये बड़े ही उदार, सीधे स्वभाव वाले तथा अल्पेक्ष थे। प्रातःकाल भिक्षाटन में उन्हें जो प्राप्त होता था, उसी से इनकी सन्तुष्टि थी और इसके कारण इनका नामकरण "पिण्डपातिक सरणङ्कर" भी लोगों ने कर दिया था।

बौद्ध धर्म और सङ्घ की प्रतिष्ठा में सम्राट को ये सदा उत्साहित करते रहे। सम्राट ने भिक्षुओं को भेजने के लिए स्याम के राजा के पास जो प्रतिनिधि मण्डल भेजा था और उस देश के सङ्घराज को जो पत्र भेजा गया था, उसे पालि

---

१. महावंस, तेतीसवाँ परिच्छेद

२. तदेव

३. तदेव

४. तदेव, पृष्ठ-५०४

में इन्होंने ही लिखा था। उस प्रतिनिधि मण्डल के सदस्यों का चुनाव भी इन्हीं के परामर्श से हुआ था और इन्हीं के उत्साह और प्रेरणा से यह प्रतिनिधि मण्डल अपने उद्देश्य में सफल हुआ। वाचिस्सर बुद्ध धर्म के प्रचार में रुचि रखते थे। इनकी शिष्य संख्या अत्यधिक थी और उस समय सिंहली भिक्षु सङ्घ में इनका बड़ा आदर था। यह बात इनके थूपवंस के अन्त में अपना परिचय देते समय प्रमाणित होती है- **"सासनं सुष्ठितं यस्य अन्तेवासिक भिक्खुसु। तेन वाचिस्सरथेर पादेन लिखितो अयं।"**

श्रीलङ्का में बौद्ध राजा

श्रीलङ्का में निम्नलिखित बौद्ध राजाओं ने बौद्ध धर्म के विकास में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया-

१. चोल राजा
२. पराक्रमबाहु
३. रानी लीलावती
४. राजा सङ्घबोधि
५. राजा धर्म पराक्रम
६. राजसिंह प्रथम
७. राजसिंह द्वितीय
८. कीर्ति श्री राजसिंह
९. सम्राट राजाधिराज
१०. विजयबाहु
११. राजा पाण्डु वासुदेव
१२. राजा श्रद्धातिष्य
१३. राजा लज्जातिष्य
१४. राजा थूलथनक
१५. राजा खल्वाटनाग
१६. राजा वट्टगामणी
१७. पाँच द्रविण राजा
१८. राजा आमण्डग्रामणी
१९. राजा कणीरजानुतिष्य
२०. राजा चूड़ाभय
२१. रानी सीवली
२२. राजा इलनाग
२३. राजा चन्द्रमुखशिव
२४. राजा यसलालकतिष्य
२५. राजा शुभ
२६. राजा वृषभ

२७. राजा वङ्कनासिकतिष्य
२८. राजा गजबाहुकग्रामणी
२९. राजा महल्लकनाग
३०. भातिकतिस्स
३१. कनिट्ठतिस्स
३२. खुज्जनाग
३३. कुञ्चनाग
३४. सिरिनाग
३५. तिष्य
३६. अभय
३७. श्रीनाग
३८. विजय कुमार
३९. सङ्घतिष्य
४०. सङ्घबोधि
४१. मेघवर्णाभय
४२. जेष्ठतिष्य
४३. महासेन।

श्रीलङ्का में बौद्ध स्तूप

थूपवंस भगवान् बुद्ध की धातुओं पर स्मारक रूप से निर्मित स्तूपों का इतिहास है। विशेषतः उसमें लङ्काधिपति दुट्ठगामिणी द्वारा अनुराधपुर में बनवाये गये महास्तूप का विस्तृत विवरण है। लङ्का में दुट्ठगामिणी के द्वारा महास्तूप बनवाये जाने का उल्लेख महावंस में भी किया गया है।[1] महापरिनिर्माण-सुत्त में यह देखने को मिलता है कि भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद उनके शरीर के अवशिष्ट चिन्हों पर आठ बड़े स्तूपों का निर्माण किया गया था और इनके अतिरिक्त एक कुम्भ स्तूप और एक अङ्गार स्तूप भी बनवाया गया था। लङ्का के राजा दुट्ठगामणि ने महास्तूप आदि कई विशाल स्तूपों का निर्माण किया था। बुद्ध भक्ति से प्रेरित होकर लङ्का के अनेक राजाओं ने विशाल विहारों और स्तूपों का निर्माण करवाया था।

महावंस में सरभू स्थविर के द्वारा स्तूप महाङ्गण चैत्य के निर्माण का उल्लेख मिलता है।[2] भगवान के परिनिर्वृत होते ही स्थविर सारिपुत्र के शिष्य

---

१. महावंस, अनुवादक- स्वामी द्वारिका दास शास्त्री, अट्ठाइसवाँ परिच्छेद व उनतीसवाँ परिच्छेद, पृष्ठ-४०६, ४२०

२. महावंस, अनुवादक- स्वामी द्वारिका दास शास्त्री, गाथा संख्या- ३७, ३८, ३९, पृष्ठ-१०

सरभू नामक स्थविर ने स्वकीय ऋद्धि बल से उन भगवान् की चिता से ही उनकी ग्रीवास्थि निकालकर भिक्षुओं सहित यहाँ आकर उसी स्तूप में रखकर उस पर मेदो वर्ण के पत्थरों का बारह हाथ ऊँचा स्तूप बनवाया था। इसी स्तूप का पुनर्निर्माण राजा देवानाम्प्रिय तिष्य के धात्रीपुत्र उर्ध्व चूड़ाभय के द्वारा हुआ, इसका उल्लेख भी महावंस में हुआ है।[1] उर्ध्व चूड़ाभय ने सरभू द्वारा निर्मित स्तूप को देख प्रसन्न हो, उसी स्तूप को अपने समय में आच्छादित कर तीस हाथ ऊँचा करवा दिया। फिर कुछ काल बाद राजा दुष्टग्रामणी ने द्रविणों को पराजित कर उस कञ्चुक और चैत्य को अस्सी हाथ ऊँचा बनवाया और उसे "महाङ्गण चैत्य" नाम से लोक में प्रख्यापित किया।

श्रीलङ्का में थेरवाद

श्रीलङ्का थेरवाद का गढ़ था। पालि साहित्य ही थेरवाद की थाती है और त्रिपिटक की अट्ठकथाओं की रचना श्रीलङ्का में ही हुई। इस प्रकार ऐसा कहा जा सकता है कि श्रीलङ्का ही थेरवाद का केन्द्र है। श्रीलङ्का में ही लुप्त भिक्षु सङ्घ की पुनः स्थापना १७५५ ई. में हुई और स्थविरवाद तथा पालि वाङ्मय के अभ्युदय ने एक नया मोड़ लिया।

श्रीलङ्का में बौद्ध धर्म का ह्रास

श्रीलङ्का में राजसिंह बौद्ध राजा था, किन्तु राजसिंह द्वारा बौद्ध पक्ष का समर्थन बहुत ही संक्षिप्त रहा। कालान्तर में एक घटना के पश्चात् वह भयङ्कर रूप से बौद्ध विरोधी हो गया। वह विहारों को ध्वस्त करने लगा। उसने बहुत सी पुस्तकों को जला डाला तथा धर्म को ध्वस्त करने का कार्य प्रारम्भ कर दिया। पोर्तुगीज कैथोलिक पादरी तथा राजसिंह इन दोनों के कारण ही प्राचीन पुस्तकें श्रीलङ्का में आज उपलब्ध नहीं होती हैं। राजसिंह से प्राण बचाने के लिए डर के मारे भिक्षुओं ने अपने चीवर उतार दिये। वीरविक्रम ने जिन बहुत से धार्मिक ग्रन्थों की प्रतिलिपि पर्याप्त धन खर्च करके करवायी थी। अब वे सभी जलकर खाक हो गयीं।

---

१. महावंस, अनुवादक- स्वामी द्वारिका दास शास्त्री, गाथा संख्या- ४०, ४१, ४२, पृष्ठ-१०

राजसिंह की मृत्यु के बाद बौद्ध धर्म के प्रति आस्था का पुनरभ्युदय हुआ। 'विमल धर्म सूरिय' (जो राजसिंह का उत्तराधिकारी था) ने राजसिंह द्वारा किये गये ध्वंसात्मक कार्यों की क्षति पूर्ति की ओर ध्यान दिया। पोर्तुगीजों तथा राजसिंह के अत्याचारों के कारण देश में ऐसा कोई भी भिक्षु नहीं था, जिसकी उपसम्पदा ठीक से हुई हो। अतः इसको पुनजीर्वित करने के लिए विमल धर्म सूरिय ने "रक्खङ्ग" देश से परम्परागत भिक्षु समुदाय को बुलवाया और 'नन्दिचक्क' स्थविर की अध्यक्षता में लङ्का में बहुत से भिक्षु आये और तब श्रीलङ्का के बहुत से प्रतिष्ठित परिवारों के कुल पुत्र घर से बेघर होकर प्रव्रजित हो गये। इसे देखकर प्रजा में हर्ष का सञ्चार हुआ। 'दन्तधातु' की भी प्रतिष्ठा एक तिमंजिला विहार बनवाकर कैन्डी में की गयी और 'श्रीपाद' के भी अधिकारी बौद्ध बनाये गये।

मृच्छकटिकम् में शासन व्यवस्था

डॉ. शालिनी मिश्रा
लखनऊ, उ.प्र.

संस्कृत साहित्य में नाट्य-साहित्य का एक विशेष स्थान है तथा इस नाट्य-साहित्य की परम्परा में "मृच्छकटिकम्" का अपना पृथक् वैशिष्ट्य है। राजा शूद्रक-विरचित "मृच्छकटिकम्" अपनी शैली का एकमात्र प्रकरण ग्रन्थ है, जिसमें अपने समय की मध्यम वर्गीय सामाजिक स्थिति को पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित किया गया है तथा समाज के उच्च एवं निम्न वर्ग को संयुक्त करते हुए समाजनीति, धर्मनीति एवं राजनीति को एक स्थान पर प्रस्तुत किया गया है।

वस्तुतः यह एकमात्र ऐसा नाटक है जिसमें हृदय की कोमल भावनाओं तथा यथार्थ जीवन की कठिनाइयों का सुन्दर समन्वय किया गया है।

"मृच्छकटिकम्" एक राजनीति प्रधान प्रकरण है। यद्यपि इसमें चारुदत्त और वसन्तसेना की प्रणय कथा का आश्रय लिया गया है परन्तु सम्पूर्ण कथावस्तु राजनीति पर आधारित है, अतः राजनीतिक दृष्टि से "मृच्छकटिकम्" में शासन व्यवस्था का अध्ययन निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है-

१. निरङ्कुश राजतन्त्र

मृच्छकटिक के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन शासन व्यवस्था में निरङ्कुश राजतन्त्र हुआ करता था। निरङ्कुश राजतन्त्र के हाथ में सरकार की अन्तिम शक्तियाँ होती हैं और उसकी इच्छा सर्वोच्च होती है।

मृच्छकटिक के निम्न उद्धरणों में निरङ्कुश राजतन्त्र का प्रभाव स्पष्ट रूप

से परिलक्षित होता है जैसे कि- राजा पालक के द्वारा अकारण बन्दी बनाये गये आर्यक की यह उक्तियाँ-

हित्वाऽहं नरपतिबन्धनापदेश-व्यापत्तिव्यसन-महार्णवं महान्तम्।

पादाग्रस्थितनिगडैकपाशकर्षी प्रभ्रष्टो गज इव बन्धनाद् भ्रमामि।।[१]

अर्थात् राजा की कैद के बहाने से बहुत बड़े आपत्ति रूप सङ्कट के विशाल महासागर को पार करके, पैर के निचले हिस्से में लगी बेड़ी रूप एक पाश को खींचने वाला मैं, बन्धन से छूटे हुए हाथी के समान घूम रहा हूँ।

भोः, अहं खलु सिद्धादेशजनितपरित्रासेन राजा पालकेन घोषादानीय विशसने गूढागारे बन्धनेन बद्धः।[२]

अरे सिद्ध की भविष्यवाणी से डरे हुए राजा पालक के द्वारा मुझे अहीरों की बस्ती से मंगाकर मार डालने वाले गुप्त कारागार में बेड़ियों से एवं हथकड़ियों से जकड़ दिया गया था।

आर्यक की उक्तियों से यह सिद्ध होता है कि राजा पालक पूर्णतया स्वेच्छाचारी तथा निरङ्कुश शासक था तभी बिना किसी अपराध के आर्यक को एक महात्मा की भविष्यवाणी से भयभीत होकर कारागार में डाल दिया गया था। यही नहीं राजा पालक के साथ उसके निकट सम्बन्धी भी अपने पद और सत्ता का दुरुपयोग कर जनता पर अत्याचार करते थे। उदाहरण के लिए-

भिक्षु (बौद्ध सन्यासी) सरोवर में कौपीन धोने पर राजा पालक के साले शकार की डाँट से काँपते हुए कहता है-

आश्चर्यम्, एष स राजश्याल संस्थानक आगतः, एकेन भिक्षुणापराधे कृतेऽन्यान्यपि यत्र-यत्र भिक्षुं पश्यति, तत्र तत्र गामिव नासां विद्धवापवाहयति। तत्कुत्राशरणः शरणं गमिष्यामि?[३]

---

१. मृच्छकटिकम् - ६/१

२. तदेव- ६, पृष्ठ-४०२

३. तदेव- ८, पृष्ठ-४६१

आश्चर्य! दुष्टता के लिए प्रसिद्ध यह राजा का साला संस्थानक आ गया। एक भिक्षु के द्वारा अपराध करने पर (अब यह) जहाँ-जहाँ दूसरे भी भिक्षु को देखता है वहाँ-वहाँ बैल के समान (उसकी) नाक को छेदकर बाहर भगा देता है, तो असहाय (मैं) किसकी शरण में जाऊँ?

भिक्षु के इस कथन से स्पष्टतया प्रतीत होता है कि राज्य में राजा के सगे-सम्बन्धी प्रजा पर अत्याचार करते थे और प्रजा न्याय के लिए भय के कारण राजा के पास नहीं जाती थी क्योंकि राजा अपने पक्षपात पूर्ण व्यवहार तथा आचरण से प्रजा का विश्वास खो चुका था।

निश्चय ही यह एक ऐसा राजतन्त्र था जिसमें राजा के पास असीमित शक्ति थी, राजा न केवल शासन प्रमुख था, वरन् कानूनों का निर्माता भी स्वयं था।

२. शिथिल शासनप्रबन्ध

इस समय शासनप्रबन्ध अच्छा नहीं था। उसके परिणामस्वरूप राज्य में विद्रोहियों की सङ्ख्या वृद्धि पर थी और षड्यन्त्रकारियों को अपनी योजनायें पूर्ण करने का अवसर प्राप्त होता था। इन षड्यन्त्रों में चोर, जुआरी, विद्रोही, कर्मचारी, असंतुष्ट पदाधिकारी तथा राजा द्वारा अपमानित व्यक्ति सम्मिलित रहते थे। जैसा कि शर्विलक ने आर्यक की रक्षा के लिए राजा पालक का विरोध करते हुए कहा-

ज्ञातीन्विटान् स्वभुजविक्रमलब्धवर्णान्
राजापमानकुपितांश्च नरेन्द्रभृत्यान् ।
उत्तेजयामि सुहृदः परिमोक्षणाय
यौगन्धरायण इवोदयनस्य राज्ञः।।[1]

जिस प्रकार राजा उदयन की रक्षा के लिए यौगन्धरायण ने प्रयत्न

---

१. मृच्छकटिकम् - ४/२६

किया था उसी भांति अपने मित्र आर्यक को कारागार से मुक्त करने के लिए अपनी जाति के व्यक्तियों, विटों, पराक्रमी राजा के अपमान से कुपित राज कर्मचारियों को उत्तेजित करता हूँ।

प्रियसुहृदमकारणे गृहीतं
रिपुभिरसाधुभिराहितात्मशङ्कैः।
सरभसमभिपत्य मोचयामि
स्थितमिव राहुमुखे शशाङ्कबिम्बम्।।[१]

बिना कारण के, सशङ्कित दुष्ट शत्रुओं के द्वारा पकड़कर बन्द किये गये, राहु के मुख में चन्द्रमा के समान प्रिय मित्र "आर्यक" को अचानक हमला बोलकर छुड़ाता हूँ। अतः कहा जा सकता है कि उस समय के शिथिल शासनप्रबन्ध तथा इस प्रकार की अराजकता का वातावरण ही राज्य में असन्तोष तथा अशान्ति का कारण था।

३. विविध विभाग तथा पदाधिकारी

तत्कालीन शासन व्यवस्था से सम्बन्धित सभी विभाग तथा पदाधिकारी राजा की आज्ञा से ही कार्य करते थे, राजा को पूर्ण सम्प्रभुता प्राप्त थी, न्याय व्यवस्था, पुलिस व्यवस्था एवं नगर पालिका उसी के अधीन थी।

मृच्छकटिक काल में सेनाधिकारी अनेक थे जो अपने-अपने विभागों की समुचित देखभाल करते थे, परन्तु सर्वोच्च मुख्य पदाधिकारी जिसके अधीन पूरी सैन्य व्यवस्था थी, वह पद वीरक को प्राप्त था, यह 'तन्त्रिल' कहलाता था, जैसा कि चन्दनक के कथन से ज्ञात होता है-

"त्वं तन्त्रिलः सेनापति राज्ञः प्रत्यायितः।"[२]

इसके अतिरिक्त एक प्रधान सेनापति का पद होता था, जो बलपति

---

१. मृच्छकटिकम् - ४/२७
२. तदेव - ६/पृष्ठ-४२१

कहलाता था, यह पद चन्दनक को प्राप्त था जिसका परिचय वीरक के कथन से प्राप्त होता है-

"त्वमपि राज्ञः प्रत्यायितो बलपतिः।"[1]

ये दोनों राजा के विश्वासपात्र थे, अतः राज्यप्रत्यायित कहलाते थे।

राज्य की ओर से गुप्तचर व्यवस्था थी जो राज्य सम्बन्धी बातों की सूचना देने के लिए सीधा राजा से सम्पर्क करती थी जिसका परिचय आर्यक की रक्षा करने पर चारुदत्त के कथन से प्राप्त होता है-

कृत्वैवं मनुजपतेर्महद् व्यलीकं
स्थातुं हि क्षणमपि न प्रशस्तमस्मिन्।
मैत्रेय! क्षिप निगडं पुराणकूपे
पश्येयुः क्षितिपतयो हि चारदृष्ट्या ।।[2]

राजा पालक का इस प्रकार बड़ा अपराध करके क्षण भर भी रुकना उचित नहीं है। मैत्रेय! बेड़ी पुराने कुए में फेंक दो क्योंकि राजा दूत रूपी आँखों से देखते हैं।

४. न्यायव्यवस्था

तत्कालीन न्यायव्यवस्था का परिचय मृच्छकटिक के नवम अङ्क में मिलता है। न्यायालय में एक आधिकरणिक अर्थात् न्यायाधीश होता था। उसकी सहायता के लिए एक श्रेष्ठिन् होता था तथा कायस्थ लिपिक के रूप में कार्य करता था। शोधनक नामक पद वहाँ के निम्न कर्मचारी का होता था।

न्यायाधीशों की नियुक्ति राजा के द्वारा की जाती थी जिसका ज्ञान शकार के कथन से होता है-

आः, किं. न दृश्यते मम व्यवहारः! यदि न दृश्यते, तदावुत्तं राजानं

---

१. मृच्छकटिकम् - ६/पृष्ठ-४२२
२. तदेव - ७/८

पालकं भगिनीपतिं विज्ञाप्य भगिनीं मातरं च विज्ञाप्यैतमाधिकरणिकं दूरी कृत्यात्रान्यमाधिकरणिकं स्थापिष्यामि।[१]

(क्रोध के साथ) आह, मेरा मुकदमा नहीं विचारा जायेगा तो मैं, अपने जीजा, बहन के पति, राजा पालक से कह कर बहन तथा माता से कहकर इस न्यायाधीश को हटा कर दूसरे न्यायाधीश को नियुक्त करा दूँगा।

शकार के कथन से स्पष्ट है कि न्यायाधीशों की नियुक्ति में कोई विशेष प्रक्रिया नहीं थी, केवल राजा ही अपनी इच्छानुसार या अपने सम्बन्धियों के कहने पर न्यायाधीश की नियुक्ति कर सकता था।

न्यायालय में प्रतिष्ठित जनों को बैठने के लिए आसन दिये जाते थे। न्यायाधीश ने चारुदत्त का परिचय पाकर शोधनक को चारुदत्त के लिए आसन देने को कहा-

"भद्रशोधनक! आर्यस्यासनमुपनय।"[२]

निर्णय करते समय साक्षी का भी ध्यान रखा जाता था तभी तो न्यायाधीश (आधिकरणिक) द्वारा वसन्तसेना की माता को गवाह के रूप में बुलाया जाता है-

'भद्रशोधनक! वसन्तसेनामातरमनुद्वेजन्नाह्वय।[३]

अभियोग की समस्त कार्यवाही न्यायाधीश के आदेशानुसार कायस्थ द्वारा लेखबद्ध की जाती थी जिसका ज्ञान न्यायाधीश द्वारा प्रोक्त निम्नलिखित कथन से होता है-

"वसन्तसेनार्यचारुदत्तस्य गृहं गतेति लिख्यतां व्यवहारस्य प्रथम-पादः।।[४]

---

१. मृच्छकटिकम् - ९/पृष्ठ-५६९

२. तदेव - ९/पृष्ठ-५९३

३. तदेव - ९/पृष्ठं-५७७

४. तदेव - ९/पृष्ठ-५८१

यद्यपि अभियोग का निर्णय शीघ्र कर दिया जाता था, परन्तु निर्णय पर अन्तिम स्वीकृति राजा की होती थी जैसा कि न्यायाधीश के शब्दों से स्पष्ट है-

निर्णये वयं प्रमाणं शेषे तु राजा।[1]

निर्णय करने वाले न्यायाधीश धर्मशास्त्र व नीतिशास्त्र के जानने वाले होते थे जिसका परिचय स्वयं न्यायाधीश के कथन से ही प्राप्त होता है-

"अयं हि पातकी विप्रो न वध्यो मनुरब्रवीत।
राष्ट्रादस्मात्तु निर्वास्यो विभवैरक्षतैः सह।।"[2]

यह ब्राह्मण पापी होने पर भी वध करने योग्य नहीं है, ऐसा मनु ने कहा है, किन्तु सम्पूर्ण सम्पत्ति के साथ इसे इस राष्ट्र से बाहर निकाल देना चाहिए।

आधिकरणिक के इस कथन से ज्ञात होता है कि वह मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों का पूर्ण ज्ञाता था।

यद्यपि न्यायाधीश यह जानते थे कि उनका निर्णय समुचित होने पर भी बदल दिया जा सकता है फिर भी वह निष्पक्ष तथा निर्भीक होकर अपना निर्णय लिखते थे।

शासन की सुव्यवस्था के लिए जहाँ एक ओर न्याय की समुचित व्यवस्था आवश्यक है, वहीं दूसरी ओर उसका पालन भी आवश्यक है। पालन न होने पर न्याय व्यवस्था का कोई औचित्य न रह जायेगा। मृच्छकटिक काल में दण्ड विधान एवं पुलिस व्यवस्था समीचीन थी।

उस समय अपराधों के लिए कड़ी सजायें दी जाती थीं। अपराधियों के दोषों के छिपाये जाने पर सार्वजनिक स्थानों में कोड़े लगवाये जाते थे।

हत्या के अपराध में खड्ग से गर्दन उड़ाने, फाँसी पर चढ़ाने, कुत्तों से नुचवाने तथा आरे से चिरवाने तक की सजायें दी जाती थीं।

---

१. मृच्छकटिकम् - ९/पृष्ठ-६३३

२. तदेव - ९/पृष्ठ-६३९

इस प्रकार मृच्छकटिककालीन न्याय तथा दण्ड व्यवस्था आधुनिक दण्ड व्यवस्था की अपेक्षा अधिक कठोर थी।

५. निरङ्कुश राजतन्त्र की विफलता तथा क्रान्ति

इतिहास साक्षी है कि जब-जब निरङ्कुश शासकों की स्वेच्छाचारिता अपने चरम पर पहुँची है तब-तब प्रजा के द्वारा क्रान्ति कर अन्याय का अन्त किया गया है।

मृच्छकटिक-काल में भी राजा पालक के अत्याचारों से सारी प्रजा पीड़ित थी और निर्दोष चारुदत्त को राजा के साले शकार द्वारा बलात् दोषी बनाया गया तथा पुनः मनु की दण्डव्यवस्था के अनुसार न्यायाधीश के द्वारा दिये गये निर्णय को न मानकर राजा पालक ने स्वेच्छाचारिता की चरम सीमा पार कर ली थी, जिसका परिचय शोधनक की निम्न उक्ति द्वारा होता है-

"राजा पालको भणति येनार्थकल्यवर्तस्य कारणात् वसन्तसेना व्यापादिता तं तान्येव आभरणानि गलेबद्ध्वा डिण्डिमं ताडयित्वा दक्षिण-शमशानं नीत्वा शूले भङ्क्त इति।।"[1]

'राजा पालक कहते हैं कि- जिसने कलेवा जैसे तुच्छ धन के लिए वसन्तसेना का वध किया उसको वे ही जेवर गले में बाँधकर, ढिंढोरा पीट कर, दक्षिण दिशा के शमशान में ले जाकर शूली पर चढ़ा दो।'

इसी कारण चारुदत्त भी कह उठता है कि-

"अहो, अविमृश्यकारी राजा पालकः।"[2]

अहह! राजा पालक बिना विचारे कार्य करने वाला है।

इस प्रकार के अत्याचारी राजा का अन्त निश्चित था तभी तो मृच्छकटिककार ने भी पालक को मारकर उस पर आर्यक की विजय दिखाकर

---

१. मृच्छकटिकम् - ९/पृष्ठ-६३४

२. तदेव - ९/पृष्ठ-६३४

यह दर्शाया है कि अनीति पर नीति तथा असत्य पर सत्य की सदा ही विजय होती है।

निष्कर्ष

इस प्रकार मृच्छकटिक में शासन व्यवस्था के अध्ययन से ज्ञात होता है कि- जिस राज्य में शासन की सम्पूर्ण शक्ति किसी एक ही व्यक्ति में केन्द्रित हो जायेगी, अवश्य ही वहाँ निरङ्कुशता, चोरी, जुआ, व्यभिचार, षड्यन्त्र आदि बुराइयाँ स्वतः ही उत्पन्न हो जायेंगी। राज्य में सर्वत्र अराजकता तथा अशान्ति का वातावरण उत्पन्न हो जायेगा।

अतः शासन-व्यवस्था वही अच्छी मानी जा सकती है, जिसमें राज्य का सर्वोच्च अधिकारी विद्वतज्जनों द्वारा निर्वाचित हो। उसकी सभी शक्तियाँ तथा अधिकार लिखित रूप में हों और वह लिखित संविधान के द्वारा ही शासन व्यवस्था चलाये, न्यायाधीश अपना निर्णय करने में स्वतन्त्र हों परन्तु एक सीमा में न्यायालय पर राज्य का तथा राज्य पर न्यायालय का नियन्त्रण हो। राजा के अपराध करने पर भी दण्ड व्यवस्था के द्वारा उसे दण्ड दिया जाये।

राज्य में संवैधानिक सम्प्रभुता हो परन्तु संविधान-संशोधन केवल विशेष स्थिति में जनता के बहुमत द्वारा ही हो।

◆◆◆

रामराज्य-एक आदर्श और वास्तविकता

डॉ. अभिमन्यु सिंह
प्रवक्ता, संस्कृत विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय

आदर्श मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के जीवनवृत्त से समलङ्कृत वाल्मीकि रामायण में रामराज्य के आदर्श और वास्तविक स्वरूप के दर्शन होते हैं। श्रीराम ने अपने सम्पूर्ण जीवन में विविध रूपों में मर्यादा का पालन किया है जिसे निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर चित्रित किया जा सकता है-

राजा के रूप में श्रीराम का मर्यादा-पालन

राक्षसों का संहार करने के अनन्तर जब भगवान् श्रीराम ने अपना राज्य प्राप्त कर लिया तब सभी ऋषि महर्षि श्रीरघुनाथ जी का अभिनन्दन करने के लिए अयोध्यापुरी आये। उन मुनिवरों को उपस्थित देख श्रीराम हाथ जोड़कर खड़े हो गये फिर पाद्य अर्घ्य के द्वारा उनका आदर सत्कार किया तथा पूजन के पहले उन सबको एक-एक गाय भेंट की। इस प्रकार के स्वागत से सभी मुनिवर बहुत प्रसन्न हुए।

महाबाहु श्रीरघुनाथ इसी प्रकार प्रतिदिन राजसभा में बैठ कर पुरवासियों और जनपदवासियों के सारे कार्यों की देखभाल करते हुए शासन का कार्य चलाते थे, तदनन्तर कुछ दिन बीतने पर श्रीराम ने मिथिला-नरेश विदेहराज जनक जी से हाथ जोड़कर कहा कि आप ही हमारे सुस्थिर आश्रय हैं। आपने सदा हम लोगों का लालन-पालन किया, आपके ही बढ़े हुए तेज से मैंने रावण का वध किया है। हे पृथ्वीनाथ अब आप हमारे द्वारा भेंट किये गये ये रत्न

लेकर अपनी राजधानी को पधारें। भरत तथा शत्रुघ्न आपकी सहायता के लिए आपके पीछे-पीछे जायेंगे।

भगवान् हि गतिख्यग्रा भवता पालिता वयम्।
भवतस्तेजसोग्रेण रावणो निहतो मया।।
इक्ष्वाकूणां च सर्वेषां मैथिलानां व सर्वशः।
अतुलाः प्रीतयो राजन् सम्बन्धकपुरोगमाः।।
तद्भवान् स्वपुरं यातु रत्नान्यादाय पार्थिव।
भरतश्च सहायार्थ पृष्ठतश्चानुयास्यति।।[1]

जनक जी बहुत अच्छा कहकर श्रीराम से बोले- राजन्! मैं आपके दर्शन तथा न्यायानुसार व्यवहार से बहुत प्रसन्न हूँ। इस प्रकार कहकर जनक जी अपनी राजधानी को चले गये-

स तथेति ततः कृत्वा राघवं वाक्यमब्रवीत।
प्रीतोऽस्मि भवता राजन् दर्शनेन नयेन च।।
यान्येतानि तु रत्नानि मदर्थं सञ्चितानि वै।
दुहिते तान्यहं राजन् सर्वाण्येव ददामि वै।।
एवमुक्त्वा तु काकुत्स्थ जनको हृष्टमानसः।
प्रययौ मिथिलां श्रीमांस्तमनुज्ञाय राघवम्।।[2]

राजा जनक को विदा करने के पश्चात् अपने मामा की विदाई करके अपने मित्र काशिराज प्रतर्दन को हृदय से लगाकर कहा- राजन्! आपने राज्याभिषेक के कार्य में भरत का पूरा सहयोग किया और ऐसा करके आपने महान् प्रेम तथा परम सौहार्द का परिचय दिया है। ऐसा कहकर धर्मात्मा श्रीराम ने पुनः अपने उत्तम आसन से उठकर काशिराज की विदाई कर दी। काशिराज की विदाई के पश्चात् अन्य सभी राजाओं की विधिवत् पूजा करके निज यथास्थान जाने के लिए विदा कर दिया।

---

१. वाल्मीकिरामायण उत्तरकाण्ड-३८/३-५

२. तदेव- ३८/६-८

ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे राघवं गमनोत्सुकाः।
पूजितास्ते च रामेण जग्मुर्देशान् स्वकान् स्वकान् ।।[1]

श्रीराम के पास पुरवासी अनेक प्रकार की हास्य विनोद पूर्ण कथाएँ कहा करते थे। उसी समय कथा के प्रसङ्ग में रघुनाथ जी ने पूछा भद्र! आजकल नगर और राज्य में किस बात की चर्चा विशेष रूप से होती है उसी चर्चा को तुम विस्तृत और निश्चिन्त होकर कहो। ऐसा सुनकर भद्र हाथ जोड़कर एकाग्रचित्त होकर इस प्रकार कहने लगा कि नगर के लोग कहते हैं कि श्रीराम ने समुद्र पर पुल बाँधकर दुष्कर कार्य किया तथा रावण और उसकी सेना सभी मारे गये। परन्तु एक बात खटकती है कि युद्ध में रावण को मारकर श्रीरघुनाथ जी सीता को अपने घर ले आये उनके मन में सीता के चरित्र को लेकर रोष या अमर्ष नहीं हुआ।

इस प्रकार से फैले हुए लोकापवाद को सुनकर श्रीराम ने अपने भाइयों को बुलाकर उनके सामने लोकापवाद की चर्चा करके सीता को वन में अकेले छोड़ देने का निर्णय लेकर लक्ष्मण से सीता को ले जाने का आदेश दिया- जिससे नगर में फैले हुए लोकापवाद को मिटाया जा सके-

गङ्गायास्तु परे पारे वाल्मीकेस्तु महात्मनः।
आश्रमो दिव्यसङ्काशस्तमसातीरमाश्रितः ।
तत्रैतां विजने देशे विसृज्य रघुनन्दन।।
पूर्वमुक्तोऽहमनया गङ्गातीरेऽहमाश्रमान् ।।
पश्येयमिति तस्याश्च कामः संवर्त्यतामयम् ।
एवमुक्त्वा तु काकुत्स्थो बाष्पेण पिहितेक्षणः।।
संविवेश स धर्मात्मा भ्रातृभिः परिवारिताः।
शोकसंविग्नहृदयो निशश्वाव यथा द्विप।।[2]

---

१. वाल्मीकिरामायण उत्तरकाण्ड- ३८/३३
२. तदेव- ४५/१७, १८, १९, २३, २४, २५

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रीराम ने अपनी मर्यादा के लिए ही संसार में फैले हुए लोकापवाद के कारण सीता को निर्वासित किया। वस्तुतः श्रीराम सीता के चरित्र की पहले ही अग्नि परीक्षा ले चुके थे, जिससे उनके चरित्र की शुद्धता प्रमाणित हो गयी थी लेकिन नगरवासियों द्वारा सीता के चरित्र को लेकर की गयी आशङ्का को दूर करने के लिए उन्हें एकान्त वनवास में भेज दिया।

सीताविरहित राम की मर्यादा

सीता को श्रीराम के आदेश से गङ्गा के उस पार छोड़कर लक्ष्मण ने हृष्ट-पुष्ट मनुष्यों से भरी हुई अयोध्यापुरी में प्रवेश किया। वहाँ पहुँचकर परम बुद्धिमान् सुमित्राकुमार को बड़ा दुःख हुआ। वे सोचने लगे मैं श्रीरामचन्द्र के चरणों के समीप जाकर क्या कहूँगा। वे इस प्रकार सोच-विचार कर ही रहे थे कि चन्द्रमा के समान उज्ज्वल श्रीराम का राज भवन सामने दिखायी दिया। राजमहल के द्वार पर रथ से उतर कर बिना रोक-टोक के भीतर चले गये। उन्होंने वहाँ देखा कि श्रीराम दुःखी होकर एक सिंहासन पर बैठे हुए हैं और उनके दोनों नेत्र आँसुओं से भरे हैं। इस अवस्था में देखकर अत्यधिक दुःखी मन से लक्ष्मण ने उनके दोनों पैर पकड़ लिए और हाथ जोड़कर चित्त को एकाग्र करके बोले वीर महाराज की आज्ञा शिरोधार्य करके मैं शुद्ध आचार वाली यशस्विनी जनक-किशोरी सीता को गङ्गा तट पर वाल्मीकि के शुभ आश्रम के समीप निर्दिष्ट स्थान पर छोड़कर पुनः आपकी सेवा के लिए लौट आया हूँ-

आर्यस्याज्ञां पुरस्कृत्य विसृज्य जनकात्मजाम् ।
गङ्गातीरे यथोद्दिष्टे वाल्मीकेराश्रमे शुभे।
तत्र तां च शुभाचारामाश्रमान्ते यशस्विनीम् ।
पुनरप्यागतो वीर पादमूलमुपासितुम्।।
मा शुचः पुरुषव्याघ्र कालस्य गतिरीदृशी।।
त्वद्विधा नहि शोचन्ति बुद्धिमन्तो मनस्विनः।।[1]

१. वाल्मीकिरामायण उत्तरकाण्ड- ५२/८, ९, १०

पुरुष सिंह आप शोक न करें, काल की ऐसी ही गति है। आप जैसे, बुद्धिमान् और मनस्वी मनुष्य शोक नहीं करते। संसार में जितने सञ्चय हैं उन सब का अन्त विनाश है। उत्थान का अन्त पतन है, संयोग का अन्त वियोग है और जीवन का अन्त मरण है। अतः स्त्री, पुत्र, मित्र और धन में विशेष आसक्ति नहीं करनी चाहिए क्योंकि उनसे वियोग होना निश्चित है। कुकुत्सकुलभूषण आप आत्मा से आत्मा को, मन से मन को तथा सम्पूर्ण लोकों को भी संयत रखने में समर्थ हैं, पुनः अपने शोक को नियन्त्रण में रखना आपके लिए कौन सी बड़ी बात है, आप जैसे श्रेष्ठ पुरुष इस तरह के प्रसङ्ग आने पर मोहित नहीं होते। यदि आप भाभी सीता के निर्वासित होने पर इतना अधिक दुःखी रहेंगे तो वह अपवाद आपके ऊपर फिर आ जायेगा। जिस अपवाद के भय से आपने मिथिलाकुमारी का त्याग किया है। निःसन्देह यह अपवाद इस नगर में होने लगेगा। आप धैर्य से चित्त को एकाग्र करके शोकबुद्धि का त्याग करके दुःखी न हों। इतना सब लक्ष्मण के द्वारा कहने पर श्रीराम ने सुमित्राकुमार से कहा कि नरश्रेष्ठ वीर लक्ष्मण तुम जैसा कहते हो ठीक ऐसी ही बात है। तुमने मेरे आदेश का पालन किया। इससे मुझे बड़ा सन्तोष है। अब मैं दुःख से निवृत्त हो गया, सन्ताप को हृदय से निकाल दिया और तुम्हारे सुन्दर वचनों से मुझे बड़ी शान्ति मिली है।

निवृत्तिष्वागता सौम्य सन्तापश्च निराकृतः।
भवद्वाक्यैः सुरुचिरैरनुनीतोऽस्मि लक्ष्मण।।[१]

सीता से विरहित अवस्था में श्रीराम ने अश्वमेध यज्ञ करने के विचार से यज्ञ की तैयारी का आदेश दिया। आदेशानुसार सम्पूर्ण यज्ञ की तैयारी हो गयी। यज्ञ की तैयारी का समाचार पाकर श्रीराम ने सभी लोगों को नैमिषारण्य में चलने का इस प्रकार का आदेश दिया कि-

---

१. वाल्मीकिरामायण उत्तरकाण्ड- ५२/१९

कर्मान्तिकानवर्धकिनः कोशाध्यक्षांश्च नैगमान् ।

मम मातृस्तथा सर्वाः कुमारान्तःपुराणि च।

काञ्चनीं मम पत्नीं च दीक्षायांश्च कर्मणि।

अग्रतो भरतः कृत्वा गच्छत्वग्रे महायशाः।।[1]

अर्थात् मेरी पत्नी की स्वर्णमयी प्रतिमा तथा यज्ञ कर्म की दीक्षा जानकर सबके आगे करके, उनके पीछे सभी ब्राह्मण, मेरी सभी माताएँ, कुमारों के अन्तःपुरी (भरत आदि की स्त्रियाँ), काम करने वाले नौकर, शास्त्रवेत्ता, विद्वान, बालक, बूढ़े तथा सम्पूर्ण सेना उस पवित्र नैमिषारण्य में पहुँचें। इस आदेश को शिरोधार्य करके सभी लोगों ने वहीं पहुँचकर यथायोग्य कर्म को किया।

इस यज्ञ में श्रीराम ने इतना अधिक दान दिया कि दान ही दान की बात सब ओर सुनायी पड़ती थी। जब तक याचक सन्तुष्ट न हो तब तक उसकी इच्छा के अनुसार सब वस्तुएँ दिये जाओ। इसके सिवा दूसरी और बात नहीं सुनायी देती थी। इस यज्ञ में जो याचक जो चाहता था उसे वही मिल जाता था। यहाँ आये हुए तपस्वी मुनि यह देख कहते हैं कि-

न शक्रस्य न सोमस्य यमस्य वरुणस्य च।

ईदृशो दृष्टपूर्वो न एवमूचुस्तपोधनाः।।[2]

अर्थात् ऐसा यज्ञ तो पहले कभी चन्द्र, यम, वरुण के यहाँ भी नहीं हुआ।

इस प्रकार सीता-विरहित अवस्था में श्रीराम ने अपनी सम्पूर्ण मर्यादा को ध्यान में रखते हुए अपना और सीता का यश प्राप्त किया। राजा श्रीराम को जिस प्रकार चित्रित किया गया है- वह इतिहास की वास्तविकता होते हुए भी राजतन्त्र एवं लोक-तान्त्रिक व्यवस्था में भी आदर्श शासनतन्त्र का पर्याय

---

१. वाल्मीकिरामायण उत्तरकाण्ड-९१/२४, २५

२. तदेव- ९२/१७, १८

माना जाता है। रामायण के साक्ष्य से श्रीराम की राजतन्त्र से सम्बन्धित मर्यादा को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।

(क) राजा के रूप में मर्यादापालक

(ख) सीता-विरहित राम की मर्यादा

इन दोनों स्वरूपों पर विचार करने के पश्चात् ही रामराज्य की वास्तविकता को समझा जा सकता है। श्रीराम ने उभयपक्षों की मर्यादा का सम्यक् निर्वाह करके देवत्व के गुणों का प्रचार किया। यही कारण है कि श्रीराम ने जो दिव्य आचरण का मानदण्ड स्थापित किया उसी की प्रेरणा से सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मदेव ने आदि कवि वाल्मीकि को श्रीराम की कथा का आश्रय कर काव्य रचना करने को कहा और यह भी कहा कि जब तक पृथ्वी पर पर्वत और नदियाँ स्थित हैं तब तक मर्यादापालक महाराजाधिराज श्रीराम के साथ तुम्हारा नाम भी अमर रहेगा-

कुरु रामकथां पुण्यां श्लोकबद्धां मनोरमाम्।
यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।।
तावद् रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति।।[1]

इतिहास साक्षी है कि अमर रामकथा के साथ आदिकवि-वाल्मीकि का नाम और राजा के रूप में श्रीराम की मर्यादा निरन्तर समादृत एवं विश्व के मानवों के द्वारा अनुकरणीय है।

१. वाल्मीकिरामायण उत्तरकाण्ड-२/३५-३६

युक्तिकल्पतरु ग्रन्थानुसार वास्तुविमर्श

प्रो. हेतु महेश राठौर
आणन्द, गुजरात

'संस्कृत साहित्य के विशाल क्षेत्र में भोजराज का योगदान अप्रतिम है', यह बात निर्विवाद सत्य है। मालवा के परमार राजाओं की श्रेणी में धारानरेश भोज परमार नामक यह महामहिम राजा सिन्धुराज का पुत्र और वाक्पतिराज मुञ्ज का भतीजा था। ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में (ई.स. १०१८-१०८३) १५-२० साल की युवावस्था में ही राजसिंहासन पर आरूढ होने का सौभाग्य इसने प्राप्त किया और उदयपुर प्रशस्ति के अनुसार इसका राज शासन कैलाश से मलय पर्वत तक फैला हुआ था। परम्परानुसार भोजराजा ने ५५ वर्ष ७ मास और ३ दिन राज्य किया था। यह राजा अत्यधिक पराक्रमी, शूरवीर होते हुए भी संस्कृति का अत्यन्त अनुरागी, स्वयं विद्वान् और पण्डितों का प्रशंसक था। यह कवियों की कविता से प्रसन्न होकर उनके एक अक्षर पर एक सुवर्णमुद्रा दान करने वाला अत्यन्त दानवीर राजा था। काश्मीर में पापसूदन नामक और भोपाल में अन्य एक तालाब वेत्रवती पर, चित्तौड़ में तथा केदार, रामेश्वर, सोमनाथ, सुदिर (सुंदरवन, बंगाल), उज्जैन का महाकाल, अनल और रुद्र के मन्दिर, धार में भोजशाला, राजमार्तण्ड नामक राजमहल, राजस्तम्भ, सरस्वतीसदन और सरस्वती की अप्रतिम प्रतिमा बनाने वाले इस राजा की प्रशस्ति में अनेक ताम्रपत्र और शिलालेख तथा विविध विषयक अनेक ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। इनमें सबसे प्राचीन बांसवाडा का ताम्रपत्र है, जो १०२० ईसवी वर्ष का माना जाता है। यह उनके अस्तित्व और महत्ता ही नहीं अपितु उनकी साहित्यिक और सांस्कृतिक गतिविधियों को भी प्रकट करते हैं। भोजराजा की प्रशस्ति के कुछ श्लोक इस प्रकार हैं-

साधितं विदितं दत्तं ज्ञातं तद् यन्न केनचित्।
किमन्यत् कविराजस्य श्रीभोजस्य प्रशस्यते।।
परमारकुलोत्तंसः कंसजिन्महिमा नृपः।
श्रीभोजदेव इत्यासीन्नासीदाक्रान्तभूतलः।।
अस्य श्रीभोजराजस्य द्वयमेव सुदुर्लभम्।
शत्रूणां शासनैर्लौहं ताम्रं शासनपत्रकैः।।
अद्य धारा सदाधारा सदालम्बा सरस्वती।
पण्डिता मण्डिताः सर्वे भोजराजे भुवं गते।।

भोजराज का विविधशास्त्रों में योगदान

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि।

इस प्रकार की पतञ्जलि के बारे में जो उक्ति है, उसके समान व्याकरण, योग और वैद्यक में राजा भोज के योगदान को इन श्लोकों द्वारा निरूपित किया गया है-

शब्दानामनुशासनं विदधता पातञ्जलेः कुर्वता।
वृत्तिं राजमृगाङ्कसञ्ज्ञकमपि व्यातन्वता वैद्यके।।
वाक्चेतोवपुषा मलः फणभृतां भर्त्रेव येनोद्धृत-
स्तस्यश्रीरणरङ्गमल्लनृपतेर्वाचो जयन्त्युज्वलाः।।[1]

भोजराज ने अनेक शास्त्रों के अमूल्य ग्रन्थों का प्रणयन किया, जो निम्नलिखित है-

१. **ज्योतिषशास्त्रविषयक-** राजमार्तण्ड, राजमृगाङ्क, विद्वज्जनवल्लभ, आदित्यप्रतापसिद्धान्त।

---

1. History of Dharmashastra, vol. I part-II, p. 586, n. 779

२. **योगशास्त्रविषयक-** योगसूत्र-राजमार्तण्डटीका।

३. **धर्मशास्त्रविषयक-** पूर्तमार्तण्ड, दण्डनीति, व्यवहारसमुच्चय, चारुचर्या।

४. **शिल्पशास्त्रविषयक-** समराङ्गणसूत्रधार, युक्तिकल्पतरु।

५. **वैद्यकविषयक-** विश्रान्तविनोद, आयुर्वेदसर्वस्व, राजमृगाङ्क, राजमार्तण्ड।

६. **कोशविषयक-** नाममाला।

७. **शैवसिद्धान्तविषयक-** तत्त्वप्रकाश, शिवतत्त्वरत्नकलिका।

८. **सङ्गीतविषयक-** सङ्गीतरत्नाकर, सङ्गीतप्रकाश, शृङ्गारप्रकाश।

९. **अश्वशास्त्रविषयक-** शालिहोत्र।

१०. **काव्यविषयक-** चम्पूरामायण (प्रथम पांच खण्ड), महाकालीविजय, विद्याविनोद, शृङ्गारमञ्जरी, सरस्वतीकण्ठाभरण, रसप्रकाश, कूर्मशतक, कोदण्डशतक, खड्गकाव्य, पारिजातमञ्जरी, शिवदत्तस्तोत्र, सुभाषित।

११. **व्याकरण विषयक-** भोजव्याकरण।

युक्तिकल्पतरु ग्रन्थ का सामान्य परिचय

'युक्तिकल्पतरु' भोजराज द्वारा प्रणीत मुख्यतया राजनीति या दण्डनीति का एक ग्रन्थ है, परन्तु इसमें वास्तु-सम्बन्धी बहुत से विषयों का विवेचन होने से यह वास्तुशास्त्र का भी प्रमाणभूत ग्रन्थ माना जाता है। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में प्रथम श्लोक से सर्ग, स्थिति और प्रलय- इन तीनों का नियमन करने वाले परमेश्वर को प्रणाम किया गया है और दूसरे में कंससूदन कृष्ण का उल्लेख करते हुए भोजराज की श्लेष द्वारा प्रशंसा की गई है।

विश्वसर्गविधौ वेधास्तत्पालयति यो विभुः।
तदत्ययविधावीशस्तं वन्दे परमेश्वरम् ।।
कंसानन्दमकुर्वाणः कंसानन्दं करोति यः।
तं देववृन्दैराराध्यमनाराध्यमहं भजे।।[1]

---

१. युक्तिकल्पतरुः, श्लोक- १-२

अनेक मुनियों के निबन्धों का सार लेकर भोजनृपति ने युक्तिकल्पतरु ग्रन्थ का प्रणयन किया है-

नानामुनिनिबन्धानां सारमाकृष्य यत्नतः।
तनुते भोजनृपतिर्युक्तिकल्पतरुं मुदे।।[1]

इस प्रकार के प्रारम्भ में आये विधान से तथा इस ग्रन्थ की पुष्पिकाओं में तथा अन्त में- इति भोजराजीये कल्पतरौ, इति श्रीमहाराजविरचितो युक्तिकल्पतरुः समाप्तः- इत्यादि वाक्यों से यह भोजराजा का ही ग्रन्थ सिद्ध होता है तथा उसमें अनेक मुनियों के विचारों का सारभूत विवेचन किया गया है। इसमें प्रायः १५०० श्लोक हैं। यह ग्रन्थ युक्तियों का कल्पतरु है। युक्ति यानि किसी भी वस्तु का कुशलतापूर्वक प्रयोग। अनेक प्रकार की युक्तियों से यह ग्रन्थ पूर्ण है। उनके समुपयोग से यह कल्पतरु यानि इच्छापूर्ति करने वाला तरु है।

विबुधामीष्टममुं कल्पवृक्षं समाश्रितः।
प्राप्नोतीष्टतमां सिद्धिं बुधाः संसेव्यतामयम् ।।[2]

इस कल्पवृक्ष का मूल दण्डनीति है, तना ज्योतिष शास्त्र है, दृष्ट फल-विद्या शाखा और पुष्प हैं, अदृष्ट-फल-अमृत सदृश रस है। राजा और मन्त्रियों को सर्वहित, अभीष्ट फल तथा आनन्द प्राप्ति के लिए इसका आश्रय लेना चाहिए। इसी के अनुरूप ग्रन्थ के प्रयोजन का भी निर्देश प्रारम्भिक श्लोकों में किया गया है।

दण्डनीतिर्यस्य मूलं ज्योतिः शास्त्रं प्रकाण्डकम् ।
दृष्टार्था इतरा विद्याः शाखाः पुष्पं तथेतराः।।
अप्यदृष्टफलं यस्य रसस्तस्यामृतं सताम्।
सोऽयं कल्पतरू पास्यो भूपमन्त्रिणाम्।।
अयमिष्टतमो भूपैर्ज्ञेयो हितफलप्रदः।

---

१. युक्तिकल्पतरुः, श्लोक- ४
२. तदेव, श्लोक- ५

अन्येषां च भवेदिष्टः प्रियं तेषां ददात्यपि।।
नीतिहीननरेन्द्राणां नश्यन्त्याशु सुसम्पदः।।[1]

नगरवास्तुविमर्श

राजा के लिए नगर निर्माण का बहुत महत्त्व होता है। शुभ मुहूर्त में, योग्य आयोजन और रचनापूर्वक बनाये गये नगर सभी के लिए सुख और समृद्धिप्रद होते हैं। नगरनिर्माणारम्भ स्थिर राशि (वृषभ, सिंह, वृश्चिक, कुम्भ) में सूर्य स्थित हो, चन्द्र भी स्थिर नक्षत्र (रोहिणी, उत्तरा फाल्गुनी, उत्तरा भाद्रपद, उत्तराषाढा) में उदित हो, ऐसे शुभ काल और शुभ दिन पर करना चाहिए।

यस्मिन् लग्ने भवेज्जन्म महीभर्तुर्महीतले
तद्दण्ड-राजक्षेत्रेण राजा पत्तनमारभेत्।।[2]

राजा का जन्म जिस लग्न में हुआ हो, उसी समय में राजक्षेत्र (नगर) का प्रारम्भ करना चाहिए। यह भोजनृपति का अभिप्राय है।

दीर्घं स्याद्दीर्घकालाय सुखसम्पत्ति-हेतवे।
चतुरस्रं चतुर्वर्गफलाय पृथिवीपतेः।।[3]

दीर्घकालीन सुखसम्पत्ति के लिए दीर्घ-आयताकार नगर शुभ होता है तथा चतुरस्र नगर चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) फल प्राप्ति के लिए निर्माण करना चाहिए। त्रिकोणाकार नगर त्रिशक्ति (इच्छा, क्रिया, ज्ञान) का नाश करने वाला और वृत्ताकार नगर बहुत रोग-प्रदायक होता है।

भोजराजा ने समराङ्गणसूत्रधार ग्रन्थ में भी आकार के आधार पर नगरों के विभिन्न फल बताये हैं- चतुरस्र एवं आयताकार नगर उत्तम प्रकार का नगर है। छिन्नकर्ण नगर का फल चौर्यभय, व्याधि तथा शत्रुभय मिलता है। विकर्ण

---

१. युक्तिकल्पतरुः, श्लोक- ६, ७, ९, १०
२. तदेव, श्लोक- १७०
३. तदेव, श्लोक- ५

नगर में रहने वाले मनुष्यों को दुष्ट राजा, अनपत्यता और अल्पायु प्राप्त होती है। वज्राकृति नगर में वसने वाले को स्त्री से पराजय, विष रोग और अनेक प्रकार के भेदों का भय रहता है। सूची-मुखाकार नगर में रहने वाले लोगों को क्षुधा एवं व्याधि प्राप्त होकर विनाश की प्राप्ति होती है। वृत्ताकार नगर में मनुष्य अपने राजा के साथ नष्ट होकर अल्पायु और निर्धनता को प्राप्त करते हैं। व्यजनाकार नगर में मनुष्य असत्यवादी, स्वल्पायु, रोगी, चित्तभ्रमित और आँधी, तूफानों से ग्रस्त होते हैं। धनुषाकृति नगर में मनुष्य दुष्चरित्र स्त्रियों से युक्त तथा नपुंसक होते हैं। शकटद्विसमाकार नगर का निवेश होता है तो उस नगर में रोग, शोक, अग्नि और चोरी का भय रहता है। दण्डाकार नगर में प्रारम्भ से ही असिद्धि प्राप्त होती है। ब्राह्मणों के लिए यह नगर भयदायक होता है तथा स्व-वर्गीयों में कलह होता है। पुरवासियों तथा राजा के अश्वों तथा हाथियों का भी नाश हो जाता है। ऐसे नगर को बलशाली शत्रु हमला करके उपभोग करता है। दिङ्मूढ नगर का फल- मनुष्यों का नाश, अग्निदाह और स्त्रीकृत भय तथा अक्षेम होता है। भुजङ्गकुटिल नगर में लोग शस्त्र, अनिल, पिशाच, अग्नि, भूत, यक्षादि से भयग्रस्त रहते हैं और रोगों से पीड़ित होकर नष्ट हो जाते हैं। राजा को इस प्रकार के अप्रशस्त नगर का निर्माण नहीं करना चाहिए। किन्तु प्रशस्त चतुरस्र अथवा आयताकार नगर का निर्माण करना चाहिए।

युक्तिकल्पतरु ग्रन्थ में नगर निर्माण के लिए विविध नाप का भी वर्णन मिलता है। राजा के हस्त के नाप को राजहस्त कहते हैं।

१० राजहस्त = १ राजदण्ड

१० राजदण्ड = १ राजछत्र

१० राजछत्र = १ राजकाण्ड

१० राजकाण्ड = १ राजपुरुष

१० राजपुरुष = १ राजधानी

१० राजधानी = १ राजक्षेत्र

नगर- पत्तन आदि के निर्माण के लिए ये सात परिमाण (नाप) का निर्देश किया गया है। श्री, सुख, भोग-सम्पत्ति कीर्ति की इच्छा रखने वाले राजा को राजक्षेत्र के मान से नगर या पत्तन का निर्माणारम्भ करना चाहिए। मयमतम् ग्रन्थ में इसके अलावा अन्य परिमाणों का अलग प्रकार से वर्णन मिलता है।

विस्तीर्णमध्यो नगरः सममर्द्धे चतुष्पथः।
प्रपा-मण्डप-कासार-काननाद्युपशोभितः।।[1]

नगर के मध्य में स्थित चौराहे वाला, प्याऊ, मन्दिर, तालाब, वनोपवानादि से सुशोभित नगर का निर्माण करना चाहिए।

नगर में वसतिविन्यास

राजधानी के मध्यभाग में मृदु स्वभाव वाले सज्जन, चिकित्सक, ज्योतिषी इत्यादि को वसाना चाहिए। नगर के बाहरी अन्तिम भाग में म्लेच्छ, अन्त्यज आदि क्रूर स्वभाव वाले लोगों को और वीर, सैनिक तथा कर्कश या निष्ठुर लोगों का निवेश करना चाहिए। नगर के गोपुर में वीर-सैनिकों का निवास होना चाहिए। राजा के आवास के निकट मन्त्रियों का निवास होना चाहिए, जिससे कार्य में शीघ्रता हो सके। मन्त्रियों का निवास स्थान एक साथ में नहीं रखना चाहिए। समीप होने पर गुप्त बातें प्रकट हो जाती है तथा षड्यन्त्र भी हो सकता है। सेवकों तथा नियुक्त अधिकारियों को नगर के बीच-बीच में वसाना चाहिए। मन्त्री और नियोगी आमने-सामने होने पर कार्य नाश होता है।

वास्तुविमर्श

वास्तु निर्माण नदी, श्मशान, शैल और वन के समीप तथा परस्पर विरोधी दो नगरों के बीच में नहीं होना चाहिए। नैऋत्य, वायव्य, आग्नेय और दक्षिण दिशा में गृहारम्भ नहीं करना चाहिए। वह भीति, रोग, दाह और विनाशप्रद होता है। भोजराजा के मतानुसार राजा का जन्म जिस लग्न में हुआ

---

१. युक्तिकल्पतरुः, श्लोक- १५५

हो, उस लग्न के अधिपति की दिशा में वास्तु का प्रारम्भ कर सकते हैं। यथा- मेष लग्न में मङ्गल अधिपति होने से ऐसा राजा दक्षिण दिशा में वास्तु का प्रारम्भ कर सकता है। पराशर के मतानुसार दशा के अनुसार भी निर्णय कर सकते हैं। जैसे शुक्र की दशा में जातक को आग्नेय दिशा दुष्ट नहीं होती। राजा को स्वनिर्मित और स्वकीय लग्नानुसार निर्मित वास्तु में रहने से चिरन्तन सुख और धर्म की प्राप्ति होती है, जैसे स्वगृहस्थ ग्रह हो। परगृह में ग्रहों की भाँति परनिर्मित वास्तु सौख्यप्रद नहीं होती। वास्तुखण्ड में एक द्वार या चार द्वार नहीं होना चाहिए। एक द्वार से आने-जाने में कठिनाई और चार द्वार दुरापह (अनियन्त्रित) होते हैं। वास्तु में दो मुख्य द्वार और अन्य एक गुप्त द्वार होता है।

हीरकस्य विशुद्धस्य ब्रह्मजातेर्महाद्युतेः।
सूर्यांशुस्पर्शमात्रेण वमतो दीप्तिमच्छिशाः।।
गृहाग्रे धारयेद्राजा तद्वज्रं वज्रधारणम्।।
वात्स्यस्तु-गृहेषु मणिविन्यासो विधेयः सदनोपरि।
तेन सर्वाणि नश्यन्ति अरिष्टानि महीभुजाम्।।[१]

वात्स्य के मतानुसार गृह में सदन के ऊपर मणिविन्यास करना चाहिए। उससे राजाओं के अनिष्ट नष्ट हो जाते हैं। वास्तु में अर्थात् गृह में मणि एवं रत्नों का झूमर इत्यादि का समुचित प्रयोग करने से सूर्य किरणें परावर्तित होकर घर में फैलती हैं, जो अनेक प्रकार के अनिष्टों का निवारण करती हैं।

वास्तु (भूमि) प्लवलक्षण

पूर्वप्लवो वृद्धिकरो धनदश्चोत्करप्लवः।
दक्षिणो मृत्युदो वास्तुर्धनहा पश्चिमप्लवः।।[२]

भूमि वा वास्तु का प्लव पूर्व दिशा में हो तो वृद्धिदायक होता है। दक्षिण दिशा का प्लव मृत्युदायक होता है। पश्चिम दिशा का प्लव धनक्षयकारक होता है।

---

१. युक्तिकल्पतरुः, श्लोक- २९६, २९७, २९८
२. तदेव, श्लोक- ३०४, ३०५

वास्तुरत्नावलि, बृहद्वास्तुमाला, मयमतम् इत्यादि ग्रन्थों में भी वास्तुप्लव का बहुत विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। यथा-

पूर्वदिशा-प्लव - वृद्धिकर, धनप्राप्ति।

अग्निकोण-प्लव - अग्निभय, हानिकारक।

दक्षिणदिशा-प्लव - मृत्युभय, गृहनाश।

नैऋत्यकोण-प्लव - धननाश।

पश्चिमदिशा-प्लव - पुत्रहानि, अपयश।

वायव्यकोण-प्लव - मानसिक उद्वेग, परदेश निवास।

उत्तरदिशा-प्लव - धनदायक।

ईशानकोण प्लव - अत्यन्त वृद्धिकर, विद्या लाभ।

इसके अतिरिक्त भी और सब प्रकार के प्लव का फल विस्तृत रूप से प्रतिपादित किया गया है।

युक्तिकल्पतरु ग्रन्थानुसार राजाओं के राजप्रासाद के लिए यह नियम है कि प्रासाद बिना चामर का न हो, बिना मणि का न हो, बिना पताका (मङ्गल चिह्न) का न हो, बिना ध्वज का न हो, बिना कुम्भ का न हो, बिना चित्र का न हो, न अधिक चित्र वाला हो, न अधिक ऊँचा हो, न अधिक नीचा हो, न अधिक अप्रकीर्ण (कम फैला हुआ) हो, न अधिक प्रकीर्ण (फैला हुआ) हो, न बिना धातु का हो, न बिना गवाक्ष का हो, न एक द्वार का हो और न बहुत द्वार वाला हो। ये वास्तु-नियम राजाओं को सर्वसम्पत्ति देने वाले होते हैं।

इसके बाद भवन-आय का भी संक्षिप्त उल्लेख किया गया है, यथा- (१) ध्वज, (२) धूम्र, (३) सिंह, (४) श्वान, (५) वृष, (६) खर, (७) गज, (८) ध्वांक्ष (काक)। अयुग्म सङ्ख्या वाले आय शुभ होते हैं तथा युग्म सङ्ख्या वाले आय अशुभ होते हैं, अर्थात् ध्वज, सिंह, वृष, गज आय शुभ हैं तथा धूम्र, श्वान, खर, ध्वांक्ष आय अशुभ होते हैं। दीपार्णव ग्रन्थ में भी गृह-गृहस्वामी

मेलापक के २१ अङ्गों में आय का विस्तृत रूप से वर्णन दृश्यमान होता है। इस ग्रन्थ में केवल आय का ही उल्लेख किया है अन्य अङ्गों का नहीं।

इसके बाद पद्म, शङ्ख, गज, हंस, सिंह, भृङ्ग, मृग, हय नामक आठ प्रकार के राज सिंहासनों की चर्चा की गई है। इसके साथ सामान्य आठ प्रकार के खट्वा या खट्विका का भी वर्णन मिलता है। धातु, पाषाण और काष्ठ से बने पीठों का विवेचन बाद में किया गया है। इसी के साथ राजा के छत्र, ध्वज, चामर, भृङ्गार (राज्याभिषेक पात्र), चषक (पान पात्र) और वितान (परदे) का विचार प्रस्तुत किया गया है।

वस्त्रों के बारे में वर्णानुसार श्वेत, रक्त, पीत और कृष्ण वर्ण के वस्त्रों को पहनना चाहिए। श्वेत या चित्र वस्त्र सभी के लिए प्रशस्त है। सुख समृद्धि के लिए कौषेय (रेशमी), कार्पास (सूती) और वार्क्ष (वृक्ष से बना) तीन प्रकार के वस्त्र कहे हैं। चमक और गुरुता रेशमी वस्त्र का गुण है, लघुता और गुरुता वृक्षसमुद्भूत वस्त्र के गुण हैं और गरमी और गुरुता लोमज (ऊनी) वस्त्र के गुण- जो सभी के लिए उपयुक्त हैं।

उपसंहार

भोजराजा का वास्तुशास्त्र के क्षेत्र में बहुत बड़ा योगदान रहा है। भोजराज-विरचित समराङ्गणसूत्रधार ग्रन्थ वास्तुशास्त्र के क्षेत्र में सही अर्थ में उसका नाम सार्थक करता है तथा मुख्यतया राजनीति के आदर्श प्रस्तुत करने वाला भोजराज का यह युक्तिकल्पतरु ग्रन्थ वास्तुशास्त्र, रत्नशास्त्र इत्यादि अनेक विषयों का आगार होने से राजा और सामान्य सभी के लिए उपयुक्त ग्रन्थ है। इसकी भाषा अत्यन्त सरल एवं निर्णय स्पष्ट हैं। अनेक विवादास्पद और गहन विषयों का सङ्ग्रह किये बिना, विवादरहित एवं आवश्यक विषयों का तथा व्यवहारोपयोगी तथ्यों का सङ्कलन, अनेक ग्रन्थों का साररूप यह युक्तिकल्पतरु ग्रन्थ है।

◆◆◆

वेदान्तविलास : दार्शनिक नाट्य-परम्परा में अनूठा प्रयोग

डॉ. सुधा गुप्ता
उपाचार्या, संस्कृत-विभाग
जुहारी देवी गर्ल्स पी.जी. कालेज,
कानपुर

वरदाचार्यकृत 'वेदान्तविलास' नाट्य-जगत् का अनूठा दार्शनिक नाट्य-रत्न है। इसे 'यतिराज-विजय' के नाम से भी जाना जाता है। १९५६ ई. में तिरुमल-तिरुपति-देवस्थान तिरुपति से प्रकाशित इस नाटक का सर्वप्रथम मञ्चन (अभिनय) भगवान् विष्णु की चैत्रोत्सव यात्रा के अवसर पर श्रीरङ्ग में हुआ। सत्रहवीं शती में रामानुज के वंश में प्रादुर्भूत, रामानुज के अनुयायी, काञ्चीपुरी के दार्शनिक विद्वान् वरदाचार्य जी अम्मल आचार्य के नाम से भी जाने जाते हैं। इनके पिता सुदर्शन के लिए विख्यात है कि वे एक घड़ी में सौ पद्यों की रचना कर डालते थे। इसीलिए उनकी प्रसिद्धि घटिकाशतक के नाम से हुई। वेदान्तविलास और बसन्ततिलकभाण- ये दो रचनाएँ वरदाचार्य जी की प्राप्त होती हैं, जिनमें से वेदान्तविलास में कवि की दार्शनिक प्रवृत्ति का वैशिष्ट्य प्राप्त होता है, जबकि अपर रचना बसन्ततिलकभाण में बसन्तविलास की श्राङ्गारिक वृत्ति उनके लोकान्तिक होने का प्रबल प्रमाण प्रस्तुत करती है।

संस्कृत नाटकों में प्रायः कथानक और पात्र पौराणिक कथाओं पर आधारित, ऐतिहासिक राजाओं की यशोगाथा, प्रेमगाथा अथवा भक्ति कथाओं पर आधारित या राष्ट्रीय पृष्ठभूमि वाले ही प्राप्त होते हैं। नाटकों के समृद्धिकाल में श्री हर्ष-विरचित 'नागानन्द' नाटक परम्परा से कुछ हटकर बौद्धधर्म और

पौराणिक धर्म का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत करता हुआ मूलतः बौद्ध धर्म की परम्परा से प्राप्त कथानक वाला एकमात्र नाटक दृष्टिगत होता है, जो कि धार्मिक-सहिष्णुता, समन्वय की भावना तथा आत्मोत्सर्ग के आदर्श की उत्तम अभिव्यक्ति कहा जा सकता है। इसकी कथा विद्याधर जातक पर आधारित बोधिसत्त्व के चरित्र को प्रस्तुत करती है। जीमूतवाहन का चरित्र संस्कृत नाट्य-साहित्य में दुर्लभ एक विशिष्ट चरित्र है, जो कि बुद्ध के जीवन दर्शन को बोधिसत्त्व के त्याग और बलिदान की कथा के माध्यम से निरूपित करते हुए अहिंसा और परदुःखकातरता के आदर्श को स्थापित करता है।

इसके पश्चात् नाटकों का विकास काल आता है, जो दसवीं से बीसवीं शताब्दी के मध्य का काल-खण्ड है। इस काल-खण्ड के अन्तर्गत ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कृष्णमिश्रकृत 'प्रबोधचन्द्रोदय' नामक शान्तरस-प्रधान दार्शनिक तथा प्रतीकात्मक नाटक उपलब्ध होता है। यूँ तो अश्वघोष के नाटक भी प्रतीकात्मक नाटकों की परम्परा का सूत्रपात करते हैं, किन्तु वे पूर्णतया उपलब्ध नहीं हैं। 'प्रबोधचन्द्रोदय' दार्शनिक नाट्य-परम्परा की प्रवर्तक कृति है। इसमें अद्वैत वेदान्त दर्शन को नाटकीय व रोचक रूप में प्रस्तुत किया गया है। सत् और असत् प्रवृत्तियों के बीच चलने वाले संघर्ष को व्यक्त करते हुए अन्त में सत्प्रवृत्तियों की विजय दर्शायी गयी है। मन की दो अवस्थाएँ प्रवृत्ति और निवृत्ति ही इसमें मन की दो स्त्रियाँ हैं, जिनसे क्रमशः मोह और विवेक का जन्म होता है। काम, लोभ, हिंसा, अहङ्कार आदि मोह के परिजन हैं। लोभ उसका पुत्र तथा तृष्णा उसकी पुत्रवधू है, जिनसे दम्भ नामक पौत्र जन्म लेता है। मोह की शक्ति के सामने कुछ समय के लिए नायक विवेक परास्त हो जाता है, किन्तु अन्त में मति, श्रद्धा, विष्णुभक्ति आदि के सहयोग से मोह की सेना पराजित होती है और राजा मन प्रवृत्ति-पुत्र-मोह के अन्त से दुःखी होकर दूसरी पत्नी निवृत्ति को अपनाकर निवृत्त होता है। विवेक उपनिषद् का पाणिग्रहण कर प्रबोधचन्द्रोदय को जन्म देता है। इस प्रकार इसमें श्रद्धा, विवेक, मति, करुणा, शान्ति, उपनिषद्, क्षमा तथा विष्णुभक्ति सदृश (अमूर्त) सत् पात्रों का काम, लोभ, अहङ्कार, महामोह, मिथ्यादृष्टि, हिंसा तथा तृष्णा

सदृश (अमूर्त) असत् पात्रों के साथ द्वन्द्व प्रदर्शित किया गया है। अमूर्त पात्रों के संवाद भी अत्यधिक सरस, रोचक और प्रभावशाली हैं।

इसी परम्परा में वेदान्तविलास का कथानक इससे कुछ भिन्न, रामानुज-वेदान्त का परिचायक तथा कुछ-कुछ जैन कवि यशपाल के मोहराज-पराजय की कथावस्तु के समान है। छः अङ्कों वाले इस नाटक में रामानुज का जीवन चरित ही मानों कथावस्तु के रूप में लिया गया है। इसके भी पात्र प्रतीकात्मक तथा मानवादि हैं। कुल मिलाकर ३८ पात्रों में से इसके लगभग १५ पात्र प्रतीकात्मक हैं तथा शेष पात्र ऋषि, मुनि, मानवादि हैं। दोनों ही तरह (मानव पात्र और प्रतीकात्मक पात्र) के पात्र रङ्गमञ्च पर वार्तालाप करते हैं, जो कि छायातत्त्व को जन्म देता है। यथा-

धर्मः - (उपसृत्य) अयमहमुपनतोऽस्मि।

यतिः - (सादरम्) धर्म, इदमासनमुपविश्यताम् ।

धर्मः - भगवन्, अलमत्यादरेण। (इति भूमावुपविशति)।

यतिः - अपि दृष्टो राजा वत्सेन।

धर्मः - (सविषादम्) राहुगृहीतो रजनीकरः कथं दृश्यते।

नाटक की भूमिका धर्म आदि भावात्मक सत्ताओं की है। यथा ईश्वर रूप ग्रहण करके रामादि बनता है, तथैव वेदान्त विलास में धर्म आदि मानव रूप धारण करके रङ्गमञ्च पर आते हैं। दूसरी दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि धर्म नामक भूमिका या चरितनायक ही इसमें धर्ममय पुरुष है। संक्षेप में नाटक की कथावस्तु कुछ इस प्रकार द्रष्टव्य है-

'सर्वैर्विलुप्तविषयः सचिवैः पुरस्तात्
सम्यग्विचिन्त्य सचिवेन यतीश्वरेण।
सम्प्राप्तिः स्वपदवैभवमद्वितीयं
सम्राडसौ खलु भविष्यति वेदमौलिः।।'[1]

---

१. आधुनिक संस्कृत नाटक, रामजी उपाध्याय, पृ. २४३

नायक वेदान्त राजा मायावाद के चमत्कार से सत्पथ से भ्रान्त होकर अपनी पत्नी सुमति का तिरस्कार कर देता है और भ्रष्टाचार-परायण मिथ्यादृष्टि का पाणिग्रहण कर लेता है। इस कार्य की सम्पन्नता में चार्वाक और बौद्धादि उसके मन्त्री होते हैं। अन्त में, नायक यतिराज द्वारा प्रदत्त ज्ञान के प्रकाश से अपनी विकृति का सज्ज्ञान करता है और अपनी पत्नी सुमति को पुनः प्रतिष्ठित महिषी के स्थान पर समादृत करता है। इस प्रकार अन्धकार की स्थिति समाप्त होने पर उसका उद्धार होता है। इस सम्पूर्ण कथानक में वेदमौलि (वेदान्त) नायक है, यतिराज रामानुज मन्त्री है और धर्म अनुचर है। चार्वाक, शङ्कर, भास्कर तथा यादव आदि अन्य चरित-नायक हैं। भरत, जनक, नारद आदि इसके प्रमुख पात्र हैं। नारद के शब्दों में-

'निरस्य तिमिरं भानुर्निधत्ते जगति श्रियम्।
एवमेनं यतीन्द्रोऽपि स्वपदे स्थापयिष्यति।।'

नाटक के अन्तर्गत एकोक्तियों की संयोजना ने न केवल वेदान्त के अपितु जैन, बौद्धों के विविध सम्प्रदाय, पाशुपत, यादवीय द्वैती, भास्करीय तथा मायावादी आदि सम्प्रदायों की अनेक ग्रन्थियों तथा मान्यताओं को इतने सरल और सहज ढङ्ग से प्रस्तुत किया है, जिसे मात्र दार्शनिक दृष्टि से समझना जन-सामान्य के लिए सम्भव न था। आध्यात्मिक जगत् से वरदाचार्य जी अपने प्रतीकात्मक पात्रों के संवादों और परिस्थितिजन्य संयोजनाओं से इस प्रकार परिचित कराते हैं कि उनकी छाप हृत्पटल पर स्वाभाविक रूप से अङ्कित हो जाती है। ऐसी ही एकोक्ति प्रथम अङ्क के आरम्भ में अकेले नायक द्वारा कहते हुए देखी जा सकती है-

'भेदोपजीव्यपि भिनत्ति तमेव भेदं
मानं प्रतिक्षिपति मासपरायणोऽपि।
सोऽयं प्रमाणपुरुषैः स्वकरोपनीतान्
मिथ्येति वक्ति मिषतोऽपि हरन् महार्थान् ।।'[1]

---

१. वेदान्त विलास, वरदाचार्य, १/३०

मन्त्री रामानुज अकेले रङ्गमञ्च पर अपनी मानसिक स्थिति का वर्णन जिस एकोक्ति के माध्यम से करते हैं, वह द्रष्टव्य है-

'वासो मुक्तपटच्चराणि वसतिर्मूले तरोर्भोजनं
भिक्षास्सप्तनवा जलं तु सुलभं त्यक्तास्समस्तैषणाः।
वर्गेषु त्रिषु निरस्पृहो भगवति न्यस्तात्मभारोऽपि सन्
चिन्तादन्तुर-मानसोऽपि सचिवश्श्रीवेदमौलेरहम्।।'[1]

अन्यापि-

'मदन्तस्सन्तापं शमयितुमलं रङ्गनगरी
समीराः कावेरीशिशिरलहरीशीकरमुचः।
समुत्पुष्यल्लक्ष्मीस्तनतटपटीरद्रवमिलन्
मुकुन्दोरः क्रीडारसिकतुलसीसौरभमुषः।।'[2]

दार्शनिक नाटक होते हुए भी शृङ्गार की निर्झरिणी लोकानुरञ्जनपरक बनकर यत्र-तत्र प्रवाहित हुई है। राजा वेदमौलि को छोड़कर मिथ्या के चले जाने पर राजा की विरह व्याकुलता द्रष्टव्य है-

'मा त्वं प्रयाहि मदिराक्षि मया कृतं ते
पश्यामि नाल्पमपि दोषमथापि किं माम्।
काष्ठागतप्रणयकन्दलितं जहासि
का वा गतिर्मम भविष्यति काञ्क्षतस्तव।।'[3]

इतना ही नहीं इतिहास को देखकर तो वह अधीर और विह्वल हो उठता है-

'सौदामिनीव मेघं मां त्यक्त्वा मायाविलासिनी।
गताहं किं करिष्यामि विरहानलविह्वलः।।'[4]

---

१. वेदान्त विलास, वरदाचार्य, १/३२

२. तत्रैव १/३३

३. तत्रैव २/२३

४. तत्रैव, २/२४

इस प्रकार सांसारिक माया-मोह-जनित अज्ञान से लेकर ज्ञान के आलोक में स्वरूपज्ञान-पर्यन्त सभी स्थितियों का कवि ने अमूर्त्त पात्रों के संवादों तथा एकोक्तियों के माध्यम से बड़ा ही सरस, रोचक तथा प्रभावशाली चित्रण किया है। नाटक में सूत्रधार स्वयं वेदान्तविलास की शैली को मधुर-मधुपदावली से सरस बतलाता है-

'कर्णामृतानि च भवन्ति कवीन्द्रवाचः'।

वेदान्तविलास की भाषा भी अति-सरल तथा बोधगम्य है। संवादों में व्याख्यान नहीं है, किन्तु शास्त्रार्थ या शिक्षण की योग्यता स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।

यद्यपि दार्शनिक और प्रतीकात्मक नाटक बहुसंख्य नहीं कहे जा सकते हैं, किन्तु फिर भी इस परम्परा में आचार्य वेदान्तदेशिक का सङ्कल्पसूर्योदय, वादिचन्द्रसूरि का ज्ञानसूर्योदय, दामोदर संन्यासी का पाखण्डधर्मखण्डन, गोकुलनाथ का अमृतोदय तथा आनन्दराय मखी का विद्यापरिणय, जीवानन्दन, नल्लाध्वरि का चित्तवृत्तिकल्याण और शिवकृत विवेकचन्द्रोदय आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें कलियुगीन समस्याओं तथा तत्कालीन सामाजिक स्थितियों का प्रबल चित्राङ्कन हुआ है। आज भी यह परम्परा प्रवहमान है, इसका हमें वेङ्कटराम राघवन् के 'विमुक्तिः' नामक प्रहसन से स्पष्ट सङ्केत प्राप्त होता है।[१]

१. संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास, डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी, पृ. ४६१

AHIṀSĀ IN THE MANUSMṚTI: ITS MODERN PERSPECTIVE

Dr. Hiran Sarmah
Gauhati University, Assam

Ahiṁsā is a term which denotes non-injury or non-violence. It is a universal belief which is deeply rooted in the Indian tradition. The roots of Ahiṁsā are found in the Vedas, Upaniṣads, Dharma Sūtras, Yoga Sūtras and other texts of Hinduism, Jainism and Buddhism. As Sir P.S. Sivaswamy Aiyer comments- "The sanctity attached to all kinds of life and the duty of abstaining from any form of injury or hurt to living beings or showing compassion to all animals down to the smallest creatures was one of the essential tenets of Hinduism"[1]. Ahiṁsā, as an ideal, sustains some other noble ideals in human mind like forgiveness (kṣamā), compassion (dayā), truth (satya) etc. and further it brings the purity of mind. B. Kuppuswamy remarked[2]- "Whatever might have been the attitude of people during the Vedic times, for the last thirty centuries or more, Indians have been wedded to the concept of Ahiṁsā".

References of Ahiṁsā are found in different texts of historical Vedic religion. It appears in the Taittirīya Saṁhitā[3] of the Yajurveda where it refers to non-injury to the sacrificer himself. It occurs several times in the Śatapatha Brāhmaṇa in the sense of non-injury without a moral connotation[4]. The Ahiṁsā doctrine is a late development in

---

1. Evolution of the Hirdu Moral Ideals, P. 118.
2. Social Change in India, P. 74.
3. Yajurveda, 5.2.8.7
4. Satapatha Brahmana, 2.3.4.30; 2.5.1.26;

Brahmanical culture. The Veda contains many references about the principles of Ahiṁsā. Ṛgveda saṁhitā[1] told 'Protect both our species, two-legged and four-legged. Both food and water for their needs supply. May they with us increase in stature and strength. Save us from hurt all our days.' Yajurveda[2] suggests 'O human! Animals are not to be killed. Protect the animals'. Atharvaveda[3] states 'We ought to destroy those who eat cooked as well as uncooked meat, meat involving destruction of males and females foetus and eggs'. The word scarcely appears in the principal Upaniṣads. The Chāndogyopaniṣad[4] has the earliest evidence for the use of the word Ahiṁsā in the sense familiar in Hinduism. It bars violence against all creatures and the practitioner of Ahiṁsā is said to escape from the cycle of reincarnation. It also names Ahiṁsā as one of the five essential virtues[5].

Ahiṁsā is dignified in the Purāṇas too. Padma Purāṇa[6] holds Ahiṁsā as the best dharma and tapas. It further tells that 'one should not do those unto others which are not desirable for oneself[7]'.

The idea of Ahiṁsā or non-violence is clearly depicted in the Rāmāyaṇa[8] where a hunter, in spite of hunting being his profession, was found to be cursed by the great sage Vālmīki for causing hurt to a bird. The concept of Ahiṁsā is also deeply rooted in the Mahābhārata. Nārada was found telling to Śukadeva[9] -'forsaking of cruelty is the dharma par excellence and therefore, having born as human being one should not injure or cause harm to others.' It is further stated in the epic that Ahiṁsā is the highest dharma, Ahiṁsā

1. Ṛg. Veda 10.37.11
2. Śukla Yajurveda, 1.1; 5.42
3. Atharvaveda, 8.6.23.
4. Chāndogyopaniṣad, 8.15.1.
5. Ibid, 3.17.4.
6. Ahiṁsā paramo dharmo hyaiṁsaiva paraṁ tapaḥ/Padma Purāṇa, Svargakhaṇḍa. 15.
7. ātmanaḥ pratikūlāni pareṣām na samācaret/Ibid, 27.
8. mā niṣāda pratiṣṭhāṁ tamagamaḥ.............Rāmāyaṇa, I.II.15
9. na himasyāt sarvabhūtāni maitrāyaṇa - gataścaret/nedaṁ janma samāsādya vairaṁ kurvīta kenacit/Mahābhārata, Śānti Parva, 329.18

is the highest tapas, Ahiṁsā is the highest truth and emerges from it the dharma[1].

The Bhagavadgītā[2] terms Ahiṁsā as one of the divine attributes which are ancillary to liberation. The Gīta does not substantially differentiate the soul of a human being from that of an animal. Thus, Ahiṁsā as a binding code of conduct implies a ban on hunting, butchery, meat eating and the use of animal product provided by violent means. The issues of moral duties toward animals and of negative Karma incurred from violence against them are elaborately discussed in other religious texts.

Ahiṁsā is the most distinctive and fundamental feature of Jainism and it forms the cornerstone of its ethics and doctrine. Out of the five major vows, known as Mahāvratas, undertaken by the Jaina monks and nuns, Ahiṁsā is the first and foremost. The other four Mahāvratas viz. truthfulness, non-violence. Vegetarianism and other non-violent practices and rituals of Jainism form the principle of Ahiṁsā. Ahiṁsā in Jainism is confined not only to humans but extended to plants, animals, small insects or other miniscule animals too. In Jainism the practice of the principle of Ahiṁsā is rigorous, e.g. abstaining from going out at night as they may cause injury to small animals by carelessness or not taking honey as it amounts to violence against the bees and so on.

Non-violence is one of the Five Precepts (Pañcaśīla) of Buddhism which, in turn, constitute the right action of the Buddhist middle path. Like the Jainas, Buddhists always condemn the killing of living beings or burning plants.

Ahiṁsā is imperative for practitioners of Patañjali's Rājayoga. It is one of the five Yamas[3] (restraints) which make up the code of conduct, the first of the eight limbs of which this path consists. It is interpreted as abstinence from malice towards all living creatures in

---

1. Ibid Anuśāsanparva, 115, 23
2. Bhagavadgītā. V. 18
3. Yoga Sūtra of Patañjali, II. 30

every way and at all times. It is not merely non-violence but non-hatred too[1].

Ahiṁsā occupies a predominant place in the Manusmṛti, the law book of Manu. The doctrine of Ahiṁsā in Manu's rule is well-established and it is evident from several references in the book. Like the Arthaśāstra and Vaśistha Dharmasūtra, Manusmṛti[2] points out that Ahiṁsā is a duty for all the four classes of people in the society. It declares that ahiṁsā should be extended to all forms of life. Manu was very much concerned about the pain or injury to the living beings-big or small, moving or non-moving and suggested various do's and don'ts. Manu points out five household items viz. mortar and pestle, grinding stone, hearth, water jar and broom stick by using which one gets involved in killing of living beings and Manu treats them as sin[3]. Manu identified some persons as killers or slayers who get involved in act of injury[4] Manusmṛti contains detailed reference about the use of flesh of animals (māṁsa) for consumption by human being. According to Manu, meat connot be obtained without killing of living beings which is detrimental to the attainment of heavenly bliss and one should avoid eating meat[5]. Manu considers one who wants to increase the bulk of his own flesh by taking the flesh of other animated beings as great sinner[6]. Though Manu sanctions some lawful slaying of animals for some religious rites he appears to take measures forsaking killing of animals for one's own consumption[7]. Considering the origin of flesh which, according to

---

1. Vyāsa Bhāṣya of Yoga Sūtra. II. 30
2. Manusmṛti, (M.S.) X. 63.
3. pañcasūnā gṛhasthasya cullī peṣaṇyupaskaraḥ/kaṇḍanī codakumbhaśca vadhyate yāstu vāhayan//Ibid,/III, 68
4. anumantā viśaisitā nihantā krayavikrayī/saṁskartā copahartā ca khādakaśceti ghātakāḥ// Ibid, V.51
5. nākṛtvā prāṇināṁ hiṁsāṁ māṁsamutpadyate kvacit/na ca prāṇivadhaḥ svargyasta smānmāmsaṁ vivarjjayet//Ibid, V.4.8
6. svamāṁsaṁ paramāṁsena yo vardhayitumicchati/Anabhyarccya pitṛn devānstato'nyo nāstyapuṇyakṛt//Ibid, 52
7. Ibid, V.39-50

Kullūka[1], is not other but a kind of menstrual blood and for the cruelty involved in fettering and slaying of animals one should stop eating meat[2]. The etymological meaning of 'māṁsa' (flesh) is "he (sa) will eat me (mām) in the other world whose flesh I eat here"[2(a)] and Manu considered killing of animals for flesh as act of generation of violence. Manu declared that the merit of non-taking of meat for life is equal to the virtue gained by hundred years' sacrifice with a horse-sacrifice every year[3]. Manu further said that he who desires not to cause confinement, death and pain to living beings, (but is) desirous of the good of all, gets endless happiness[4]. It is also stated that he, who injures nothing attains, without effort, what he meditates, what he does and what he takes delight in[5].

Mokṣa or liberation is the ultimate goal of human life and Manu suggested along with other qualities like control of sense organs, decay of passion and hatred, the necessity of harmlessness to beings for attainment of the ultimate goal[6]. In order to desist oneself from causing harm to the living beings Manu suggested that he should walk looking at the ground even in pain of the body[7].

Manu considered slaying of human being, irrespective of Brāhmaṇa, Kṣatriya or Śūdra, or killing of cow as sin[8]. Telling of untruth in respect one's superiority is considered as equivalent to slaying of Brāhmaṇa[9] as they may sow the seed of hegemony. Manu's

---

1. Kullūka on M.S.V. 49
2. samutpattiñca māṁsasya vadhavandhau ca dehinam.prasamīkṣya nivarteta sarvamāśasya bhakṣhaṇāt//M.S.V., 49

2(a) Ibid, V.55

3. varṣe varṣe' śvamedhena yo majeta śatam samāḥ/māṁsāni ca na khādet yastayoḥ pynyaphalaṁ samāḥ/Ibid 53.
4. yo vandhanavadhakeśān prāṇinām na cikīrsati/sa sarvasya hitaprepsuḥ sukhamatyantamaśnute//Ibid, 46
5. Ibid v.47
6. Ibid, vi, 60,75
7. saṁrakṣaṇārthaṁ jantūnāṁ rātrāvahavi vā sadā/śarīrasyātyaye caiva Samīkṣhya varudhāṁ caret//Ibid. 68
8. Ibid, XI, 55,60,67.
9. Ibid, 56.

concept of Ahiṁsā was confined not only to the living beings or animals of higher order but also to the plants and animals like insects, worms etc. He gives attention to the protection of wild animals and plants.

Manu's concern about the cutting and destroying of trees and plants without a lawful reason glorifies his view towards the doctrine of non-violence. Manu's environmental awareness in that age of remote antiquity, which has been the burning problem of this era, is a valuable admonition to mankind. Realizing the importance of plants and other animals for the very sustenance of mankind he proscribed the felling of live trees for firewood or injury to the plants.[1] Cutting of trees which bear fruit, bushes, vines and creepers and plants which grow in wood are considered as acts of violence according to the Manusmṛti and they need expiation[2]. Killing of animals like ass, horse' elephant, fish, snake etc. are considered as crime[3]. Likewise killing of birds, winged insects or worms also need to be prohibited[4].

Manu further said that one should plant trees voluntarily and not for acquiring of remuneration[5]. Kullūka tells 'One who plants for money is not a person suitable for acquiring dharma, as it is held that who plants five number of mango sapling does not go down to the hell[6].

Manu tried to contain the harm committed to nature by acts of violence and pleaded for love, compassion for the animals and plants. He said that by injuring the living beings one gets condition of disease[7].

---

1. Ibid, 64,65
2. Ibid, 143,145
3. kharāśvoṣṭramṛgebhānāmājavikavadhastathā/saṁkarīkaraṇam jñeyaṁ mīnāhimahiṣasya ca/ /Ibid, 69
4. kṛmikītvavayohatyā madyānugatabhojanaṁ/Phalaidhaḥkusumanteyamadhairyañca malāvaham//Ibid, 71
5. Ibid, III 163
6. Kullūka on M.S. III 163
7. M.S.XI 52.

The eleventh chapter of the Manusmṛti contains some expiatory rites for the four social orders for committing some condemnable acts. Most of the expiatory rites are prescribed for acts involving injury towards different animated beings-from the highest to the lowest. These rites are otherwise some means for checking injury or violence done by men towards the other living beings.

Nītiśāstra teaches us 'vasudhaiva kutuṁabakam' meaning the entire world is my family and this forms the core of religious and cultural ethos of the Indian psyche. Again the concept "yatra jīva tatra śiva" implying God dwells in every living being motivate people to venerate all living beings- irrespective of plants or animals, high or low, developed or not and so on. Religions or faiths originated in India have highlighted the importance of Ahiṁsā in the pursuit of eternal happiness, peace or prosperity in the society. Ahiṁsā or non-violence is, in simple words, a simple systematic and scientific way of peaceful coexistence of all living beings. As rational being human can prosper or attain peace through practice of Ahiṁsā which is a unique contribution of Indian thought to the world.

Ahiṁsā does not merely imply absence of violence but also indicates absence of desire to indulge in any sort of violence. In the 19th and 20th centuries many prominent thinkers of India emphasized the importance of Ahiṁsā. Mahatma Gandhi is one who applied Ahiṁsā in both social and political fronts by his non-violence *satyāgraha*.

Gandhiji considered Ahiṁsā as the highest virtue of mankind and that no virtue can be practised unless all living beings are allowed to live and that all other virtues presuppose love. All virtues require some amount of self sacrifice and this is not possible without love. According to Gandhi, Ahiṁsā is essential for loksaṁgraha and one cannot hope to bring about good of the society without renouncing violence. The achievement of India's independence through non-violence struggle conducted under the leadership of Mahatma Gandhi is a unique example of non-violence in the history of the world.

Gandhi's philosophy of Ahiṁsā or non-violent resistance movement satyāgraha had immense impact in India, impressed public opinion throughout the western countries and influenced leaders of movements for civil or political rights such as Martin Luther King Jr. or Nelson Mandela. It is still being hailed and practiced in almost every part of the world. Ahiṁsā in Gandhiji's thought precludes not only act physical harm but also mental states like hatred, untouchability, dishonesty, lying, unkin behaviour etc. and he considered these as incompatible with Ahiṁsā.

God has created the universe and each and every individual is his part and any act of violence is, in simple words, defiance of the wishes of the creator, or disruption of the process of creation or sustenance of the universe. Different philosophical texts or śāstras including the Manusmṛti are found to have suggested various ethics and principles for peaceful coexistence of all the living beings and avoidance of violence or hiṁsā is at the core of all the principles of co-existences, peace and prosperity.

The world today has witnessed various evils like, hatred, famine, war, hunger torture, disparities-social, economic or others, deprivation, excessive pressure on the natural environment- leading to extinction of a large variety of flora and fauna and so on. Erosion of moral and ethical values is vividly transparent. Concept of love, respect for universal brotherhood or peaceful co-existence, espoused specially by the Indian culture and thought through ages are almost disappearing.

Situation has turned into such a horrible state to-day that the very existence of the universe and its things and beings are at stake. Hostility among people has grown. Scientific and technical innovations are being so misused and the rulers and the scientific community are intensely engaged in production of lethal weapons like atom bomb or others which can cause irreparable damage to the mankind and the environment in a split of second. This is really shocking.

The present state of affairs is primarily due to non-adhering

the principle of love and respect for the creatures and the creator of the universe. Men throughout the world today are vying for peace and prosperity. This can be attained through observation of some ethical principles like humility, love, truthfulness, honesty, tolerance, charity so on and non-violence (Ahiṁsā) is at the core of all the virtues.

Among all ethical teachings Ahiṁsā (non-violence) is considered the supreme. Teachings of ancient India highlighted the necessity and merits of Ahiṁsā for the sustenance and development of man and nature. Manusmṛti, a law book, contains elaborate guidelines to the followed by mankind for controlling violence for the welfare of man, animal and nature.

Manu emphasized on non-injury, non-killing of plants and animals, avoidance of non-vegetarian food and so on. Taking of vegetarian food has been considered the best in the society at present for its merits, namely helping in increase of the inner and outer strength, nourishing the simultaneous development of mental, vital physical force, pleasure and satisfaction and above all the tranquility of mind and body. Manusmṛti advocates vegetarian food as it will help in avoiding killing of animals, which he considers as acts of violence. Manu's dictum for preservation of environment has been considered as appropriate by the present day world. The world has realized that any damage to the environment will ultimately harm the mankind.

Manu's concept of Ahiṁsā is very much relevant and the society, to a large extent, can get relief from the trouble faced by it by following the principles of Ahiṁsā (non-violence) suggested by Manu.

◆◆◆

THERAPEUTIC IMPLICATIONS IN BHARATA'S NĀṬYAŚĀSTRA FOR THE BODY PERFECTION OF ACTORS

Dr. Damodharan P.M.
Thainneerkkdde, Chalissery Cvia

The science of Āyurveda has its existence from the origin of life itself in the world. It is the Veda of life and healthcare. It is necessary to know and love nature for developing a cheerful and humane social life. Such a bond exists between art forms and human life too. The link between art forms, especially Theatrical, and Āyurveda is not a mere exercise with words like 'Rasa' that occur both in aesthetic and Āyrueda. In the latter it is related to the body, while in the former it is connected with soul. Which are ultimately interconnected as the eternal aim of life, surely Melpathur proclaims to have 'Āyurārogyasaukhyam' with a keen understanding of this principle.

In Bharata's *Nāṭyaśāstra*, which is an encyclopaedic work in dramaturgy as well as poetics, 'Rasavikalpa' is given pivotal significance.

There is much relation between *Nāṭyaśāstra* and Āyurveda in this aspect. Nāṭya is an imitation of the world.' 'लोकवृत्तानुकरणं नाट्यम्'[1] So, all sorts of sciences and disciplines related the body and mind can be found dealt with in *Nāṭyaśāstra*. Thus states Bharata:

न तत् ज्ञानं न तच्छिल्पं
न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म
नाटयेऽस्मिन् यन्न गीयते।।[2]

---

1. *Nāṭyaśāstram*, 1-85
2. Ibid., 1-87

In detailed examination, major principles of Āyurveda also can be identified in many passages in this ancient text. The last part of the chapter 'cārīvidhana' (chapter XI) describes the Āyurvedic observations of Bharata regarding the building up of the body as well as the mind of an actor. In the very first chapter itself the sage disseminates the necessity of this. According to him the actor must be equipped with intelligence, power of reasoning, courage, good bodily features and soundness of the body to bear any amount of exertion in the process of enacting. That is why, after the creation of Drama for the first time, the sages or Ṛṣis who were endowed with all these gifts were selected for its presentation, not the gods who are always lazy and so not at all fit for 'Nāṭyaprayoga'.

उत्पाद्य नाट्यवेदं तु ब्रह्मोवाच सुरेश्वरम् ।
इतिहासो मया सृष्टः स सुरेषु नियुज्यताम् ।।
कुशला ये विदग्धाश्च प्रगल्भाश्च जितश्रमाः।
तेष्वयं नाटयसंज्ञो हि वेदः संक्राम्यतां त्वया।।
तच्छ्रुत्वा भगवान् शक्रो ब्रह्मणा यदुदाहृतम् ।
प्राञ्जलिः प्रणतो भूत्वा प्रत्युवाच पितामहम् ।।
ग्रहणे धारणे ज्ञाने प्रयोगे चास्य सत्तम।
अशक्ता भगवन् देवा अयोग्या नाट्यकर्मणि।।[1]

So Brahma assigns Bharata the task, as per the suggestion of Indra himself. Thus Bharata learns the 'Nāṭyaveda' from Brahma. He teaches the art to his sons or disciples. The teaching was fully practical oriented.

The above mentioned qualities are inevitable for any actor. For that Bharata prescribes Āyurvedic therapies like body - maintenance, exercise, daily-routine, practice, massage, medicine-bags, nasal-drops and pelvic baths. All these improve the dynamism and grace of the

1. Ibid., 1-12-14

body. Without the support of such body structure, the actor's effort will be in vain, says Bharata.

Thus what is impossible for gods, is possible for humans who are like Ṛṣis. The present study attempts to introduce the Āyurvedic principles and practices mentioned in *Nāṭyaśāstra*, that aim to improve the bodily and health aspects of the actor.

Some points regarding body exercise mentioned in *Nāṭyaśāstra* are given here.

(A) The definition of Vyāyāma

अंघ्रिजोरुकटिजैः कर्मभिः करकर्मभिः।
औचित्येन च यत्साम्यं स व्यायामोऽभिधीयते।।[1]

A number of Cārīs (that is combination of the movements of the feet, the knees, the thighs and the hip) each leading to the next in particular order (together with the necessary movements of the hands) is called 'Vyāyāma' (and is employed by way of exercise).

(B) Kinds of Vyāyāma

चारि चकरणं खण्टो मण्डलश्चेति तद्विदा।
तत्रैकपदचलना चारीति प्रतिपाद्यते
पदद्वयेन करणं तन्नृत्तकरणात्पृथक्।।[2]

If the 'vyāyāma' consists of a single foot, then it is called Cārī. If the movements of both the feet are involved then it is called Karaṇa. (This Karaṇa is different from 108 Karaṇas mentioned earlier in *Nāṭyaśāstra*). This combination of three Karaṇas is called a Khaṇḍa. The combination of three Khaṇḍas is called a Maṇḍala.

The exercise should be performed in the Angaharas embellished with the Sauṣṭhava and accompanied by music with (proper) Tempo and Tāḷa.

---

1. *Nāṭyaśāstra* Sangraha, p.66
2. Ibid., p-66-67

अङ्गसौष्ठवसम्पन्नैरङ्गहारैर्विभूषितम्।
व्यायामं कारयेत् सम्यक् लयतालसमन्वितम्।[1]

(C) Sauṣṭhava

Those performing exercise (in Aṅgaharas) should be care of the Sauṣṭhava, for the limbs without it (sauṣṭhava) create no beauty (do not shine), in drama or dance. The Sauṣṭhava of limbs is to be presented by being still, unbent, at ease, not very upright and the feet not moving. When the waist and ears as well as the elbow, the shoulder and the head are in their natural position (sama) and the breast is raised, it will be the Sauṣṭhava [of the body].

सौष्ठवे हि प्रयत्नस्तु कार्यो व्यायामवेदिभिः।
न हि सौष्ठवहीनाङ्गः शोभते नाट्यनृत्तयोः।।
अचञ्चलमकुब्जं च सन्नगात्रं तथैव च ।
नात्युच्चं चलपादं च सौष्ठवाङ्गं प्रयोजयेत्
कटीकर्णसमा यत्र कूर्परांसशिरस्तथा।।
समुन्नतमुरश्चैव सौष्ठवं नाम तद् भवेत् ।[2]

(D) Method of Exercise

One should perform exercise [in Aṅgaharas and Cārīs] on the floor as well as [high up] in the air, and should have before hand ones body massaged with the (sesamun) oil or with body gruel.

तैलाभ्यक्तेन गात्रेण यवागूमृदितेन च।
व्यायामं कारयेद्धिमान् भित्तावाकाशके तथा।
योग्यायां मातृका भित्तिस्तस्माद्भित्तिं समाश्रयेत् ।।
भित्तौ प्रसारिताङ्गं तु व्यायामं कारयेन्नरम् ।
बलार्थी च निषेवेत नस्यं वस्तिविधिं तथा।।[3]

---

1. *Nāṭyaśāstram*, XI-73
2. Ibid., XI-74-77
3. Ibid., XI-82-84

The floor is the proper place for exercise. Hence one should resort to the floor, and stretching oneself over it one should take exercise.

(E) Health and nourishment of persons taking exercise

For the strength of body one should take (proper) nasal medicine and get one self purged (resort to the rule regarding the abdomen). Take oily food, juice of sugarcane and sherbet. For, vitality is dependent on one's nourishment, and the exercise is dependent on vitality. Hence, one should be careful about one's nourishment. When bowels are not cleansed and one is very tired, hungry, thirsty, has drunk too much [water], eaten too much, one should not take exercise. The wise (teacher) should give training in exercise to his pupil who has a grace body and square breast and is not covered with garment.

स्निग्धान्यन्नानि च तथा रसकं पानकं तथा।
आहारेऽधिष्ठिताः प्राणाः प्राणे योग्याः प्रतिष्ठिताः।
तस्माद्योग्याप्रसिद्ध्यर्थमाहारे यत्नवान् भवेत् ।
अशुद्धकायं प्रक्लान्तमतीवक्षुत्पिपासितम् ।।
अतिपीतं तथा भुक्तं व्यायामं नैव कारयेत् ।
अचलैर्मधुरै गात्रैश्चतुरश्रेण वक्षसा।
व्यायामं कारयेद्धिमान् नरमङ्गक्रियार्थिनम् ।।[1]

The physical body was considered as the primary means of the accomplished of creativity. This affirmed by Kāḷidāsa stating शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् in his famous poem Kumārasambhava.[2] Māgha also attests this view in his Mahakāvya Śiśupālavadha अयथाबलमारम्भो निदानं क्षयसम्पदः।[3]

---

1. Ibid., XI-84-87
2. *Kumārasambhavam*, V-33
3. *Śiśupālavadham*, II-94.

Thus there are many references in *Nāṭyaśāstra* regarding therapeutic implications for the perfection of the body for the actors. These methods are followed even today in classical theatre by actors all over the country. Especially in Kerala the actors performing Kūṭiyāṭṭam, the ancient Sanskrit theatre preserved here, follow these methods and similar other methods for body perfection. In theatrical arts in Kerala like Kṛṣṇanāṭṭam and Kathakali that developed later on the influence of Kūṭiyāṭṭam mainly, more rigorous methods of exercises are seen prescribed for arts. In these art forms like the principles or Āyurveda, the influence of other regional martial arts like Kerala is also seen much.

DECANATES OF HINDU ASTROLOGY

Sudev Krishna Sharman-G
Calicut, Malapuram

The Indo-European languages can be tied not only by the thread of linguistic properties they possess, but with that of the cultural, philosophic and scientific discourses also. Still the astrological coherences are curbed only to Indian and Greek traditions.

Indian and Greek astrology have deep correlations with each other. These correlations are reflected in the concept of Zodiac, in the concept of stars subsisted in it and in the terminology of planets. But Hindu astrologers were not reluctant in paying tribute to the Greek contributors, although they had a very strong backing of Vedic antiquity for their sciences. They have given a sizable status to Greek as one among their eighteen astrological connoisseurs[1]. These may persuade us to think about the notion of astrology which had prevailed in the Indian subcontinent before the Aryan settlement[2].

Terminology in Astrology

The twelve signs of Zodiac and their illustrated representations are widely accepted in both the systems. Here the question of anterior-posterior relationship of these two systems arises.

Analysing Indian astrology we can see that a sign has got so many names as their synonyms. For example the first sign of the

---

1. Sūrya, Pitāmaha, Vyāsa, Vasiṣṭha, Atri, Parāśara, Kaśyapa, Nārada, Garga, Marīci, Manu, Aṃgria, Lōmaśa, Pauliśa, Cyavana, Yavana, Bhṛgu, Śaunaka
2. KV Sarma has pointed out that Romakasiddhānata-one siddhānta among Pancasiddhānta-s is of Greek origin which is more or less comparable to the theories of Ptolemy.

Zodiac have Sanskrit names like 'Kriya, Meṣa and Aja' etc. This sign is named 'meṣa or aja' means sheep due to the illustration it had. Thus the real name may not be these two. Here it is pertinent to say that the term 'Kriya' came from the Greek term 'Kriyos' In the same way all of these signs have a descriptive name of its' illustration, and an another one which is of Greek origin.

All other synonyms rather than these, point to the descriptions of these signs in Sanskrit language. And these terms are non-sanskritic in it's nature. But it is sanskritised to an extent. Thus the acceptance of Greek terminology of the Zodiac in India evidently points out that the twelve sign system in astrology is purely a Greek origin. The terminology attests this diction. Many of them have direct connections with Greek mythological characters even.

Signs (Latin Name)	Sanskrit Name	Greek Name
1. Aries	Kriya	Krios
2. Taurus	tāvuru	Távros
3. Gemini	Jutuma	Dīdymoi
4. Cancer	kulīra	karkīnos
5. Leo	Leya	Lēon
6. Virgo	pārthona	Parthēnos
7. Libra	Jūka	Zygos
8. Scorpio	Kaurpa	Skorpios
9. Sagittarius	taukṣika	Toxoṭis
10. Capricorn	ākokera	Aigokeros
11. Aquarius	hṛdroga	ydrochoos
12. Pisces	ithasi	lchtheīs

Meanwhile, the twenty-seven star system which is frequently referred to in Vedic lore seems to be an original Indian contribution. Daśa system (The period which a planet has its' own power), Muhūrtta

(Auspicious time), Melāpaka (matching), Cāndra māsa (Lunar month) all are based on these star systems and starlet positions of Indian planets (Graha-s) which rightly shows the genuinity and prominence of this system. Later the Greek also accepted some fixed stars to denote spatial co-ordinates. Ptolemy refers to 14 stars in his celebrated work, *The Almagest.*

Apart from these mythologies in Greek (Europe), Egypt(Africa) and Babylon (Iraq) have influenced much in associating these representations to their signs, while the twenty seven groups of real stars seen in the sky are more or less similar to their schematic representations.

Zodiac Signs and Its Partitions (Rāśi-s Varga-s)

To get the exact locus of a planet situated in a particular sign, astrologers go for the exact partitions of that particular sign. These partitioned positions are called as Varga-s in Hindu astrology. Six types of Varga-s are generally taken for predictons in astrology.

Parāśara says about around sixteen types of varga-s[1]. But Varāhamihira has given priority to these six varga-s only.

Sl No. Varga-s	Partition of a Sign(rāśi)	Degrees
1) Drekkāṇa	1/3	10 degrees
2) Horā	1/2	15 degrees
3) Navāṃśaka	1/9	3 degrees 20 minutes
4) Triṃśāṃśaka	: five partitions divisions are not equal	5, 5, 8, 7, 5 degrees
5) Dvādaśāṃśaka	1/12	2 degrees 30 minutes
6) Kṣetra	no division	30 degrees (complete)

1. Rāśi, Horā, Drekkāṇa, Chaturthāmśa, Saptāmśa, Navāmśa, Daśāmśa, Dvādaśāmśa, Shoḍaśāmśa, Vimśāmśa, Siddhāmśa, Bhāmśa, Trimśāmśa, Chatvariṃśāmśa, Akṣavedāmśa, ṣaṣṭiamśa (Sixth Adhyāya, *Bṛhatparāśarahorā*)

Drekkāṇa or Decanates

'Drekkāṇa-s'(which is sometimes called as dṛkkāna/drekāṇa/ drēṣkāṇa)[1] or decanantes can be made by dividing a sign of thiry degrees into three equal parts. Hence one decanate consists of ten degrees. Thus in twelve signs there will be 36 decanates in total. The lords of first, second and the third drekkāṇa-s of a sign are respectively the lord of the sign itself, the fifth lord and the ninth lord from that particular sign respectively.

If in one horoscope Sun is in aries within the first ten degrees, its' sign-lord being Mars the decanate-lord will also become the same. In the same way the lords of all other varga-s of Sun are considered. Here Mars is represented twice in six varga-s, hence this Sun is Mars-like in its' nature. With these lords of different varga-s astrologers can make wonderful predictions without fail provided the varga analysis should be perfect.

Kalyāṇavarma in *Sārāvali* has given prime importance to the four varga-s namely lagna, horā, drekkāṇa and navāṃśa for reconstructing a lost horoscope (naṣṭajātaka). He has described the different characteristics of each one belonging to each of these varga-s and with these clues an astrologer can easily reconstruct it.

All of these varga-s are equally important in making the prediction correct. But among these varga-s, drekkāṇa only has got unique pictorial representations which are referred to in the 25th chapter of *Bṛhajjātaka*. Varāhamihira is indebted to Yavanācarya who seems to be a Greek astrologer for many of these representations. But the implications of these representations are not correctly mentioned by the author. The commentators like Rudra, Talakkuḷathur bhaṭṭatiri wished these to be included in marriage-queries (vivāhapraśna), and in thief-queries (corapraśna) etc.

---

2. Another suspicious term which cannot claim any sanskrit root as its' origin. Monier-Williams Dictionary says that it is a "demi-god presiding over the signs".

Bṛhadyātra, an important treatise in war-query (yuddhapraśna) which is attributed to Varāhamihira says that while prediction if we come across a decanate whose representations include some auspicious symbols, then it is a good sign, and otherwise it is not.

Decanates and The Decan Calendar of Egypt

Although Mihira says he got these illustrations from Greek, the Greek antiquity is still doubtful as we cannot find any remnants of these in the Greek or in the western astrology as the western astrology owes to Greek for most of their conceptions.

Egyptians had 36 star configurations all over the Zodiac which are called 'decans'-the figures of which were pictured by the king Seti I in the Decan calender of Egypt-an annual solar calender. These pictures can be now seen-

1. inside coffin lids of 10th dynasty (2100 BC)
2. in the tomb ceilings of Seti 1 (!318-04 BC)
3. and in Rameses in Thebes

One such picture showing all these 36 decans is given below.
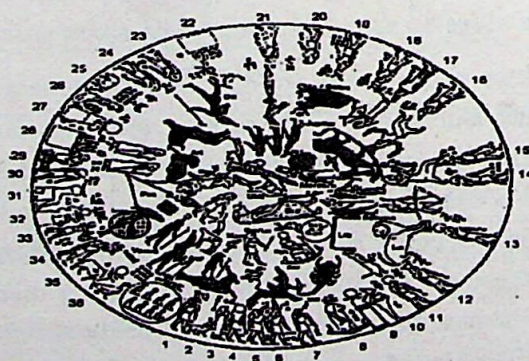
1. yavanāḥ vadanti, iti yavanairudāhṛtaṃ (*Bṛhajjātaka* 25.20, 21) The plural form of 'yavana' is always used here. Hence it can be inferred that there a group of astrologers or it was accepted by this school of astrology.

Implications of Drekkāṇasvarūpa-s in Prediction

Among Hindu astrologers Varāhamihira seems to be the pioneer in drekkāṇic predicton. But Varāhamihira says that he has had this method of prediction from that of Yavana(s)[1]. Thus it is clear that Varāhamihira has adopted this technique from Yavana School of astrology. Moreover the chapter including drekkāṇasvarūpa-s are included in the last chapter of Bṛhajjātaka which also points out that perhaps this chapter may be a later addition or of having less importance in Varāhamihira's school of astrology. He had theorised the nature of decanates, but the more practical aspect of them in predictive astrology are not implied much in the texi itself[1].

While explaining the characters of decanates, he may have with him a true representations of this drēkkāṇasvarūpa-s as followed by the Greek (or originally by the Egyptians). These verses are the most brilliantly constructed iconographical symbols in astrology. Though an ambiguous acceptance by such an authoritative person like Varāhamihira made the later astrologic lore being fully influenced by it which gave way to a novel technique for prediction i.e. picture-interpretation.

It is a mere fact that a picture can be interpreted in a number of ways even if it is picutrised. Owing to this fact, many of the projective tests like Rorshaw Inkblot test, Thematic Apperception Tests (TAT) and other picture-interpretation tests are introduced by the psychologists for analysing the mental states of the interpreter. Thus, the interpretation of a non-picturised form, merely from a literal reference of a picture may certainly create differences in its' interpretations. Thus different sort of interpretations by different astrologers make this drekkāṇic prediction a little bit complicated.

Perhaps this interpretational problem may be the reason for the lack of any further references in astrological literature. Thus we

---

1. Mihira says '22nd decanate can be considered as the cause of death' (B.J 23-11). But here also the author implies to say that lord of the decanate or the rāśi should be considered as the real cause, and not at all the illustrated decanate.

have no more literary references to the implications of these svarūpa-s.

B V Raman says-

"The allocation of special meanings to the decanates has a long history. The problem of interpreting them is difficult and calls forth on the part of the astrologer a great intuitive capacity." (*Hindu Astrology and the West 301-302*)

After Mihira all the later astrologers have merely quoted his verses adding nothing to it. In *Praśnamārga*, this is included in the appendix (praśnamārgapariśiṣta). In Vivāhapraśna and in Corapraśna these verses have implications. In Daivajnavallabha, it is said that

"drekkāṇasadaṛśaścoro lagnaṃśasadṛśaṃ dhanaṃ" (9-4)

[The thief[1] will be similar to the nature of that decanate and the stolen thing will be similar to the corresponding sign]

Also praśnamargakāra has added four more verses concerning drekkāṇa-s[2]. All words of these verses are taken from the first words of the original thirty six verses of Varāhamihira from which one can easily memorise any decanate of any signs. This points out that the knowledge of Drekkāṇasvarūpa is mandatory to an astrologer. Kedardatt joshi in his commentary to Drekkāṇasvarūpa-s says that when one is born to a particular Drekkāṇa (or the decanate in which the ascendant occupies) its' svarūpa has great significance in making the characteristics of that person.

Rudra is of different opinion. According to him when an astrologer says an instance correlating to the nature of any of the characteristics of these Drekkāṇa-s at the time of prediction, he should recognise that instance as resembling more to that of a particular Drekkāṇsvarūpa. When Sun or Moon whoever is stronger passes

1. See Praśnamārga (29-42) for more references to the nature of thisves.
2. katyāṃ, raktāmbarā, krūraḥ, kunctia, kṣetradhā, dvipaḥ/ sūcy, odyā, bhūṣitaḥ, patra, padma, bhāryābhi, śālmaleḥ// haya, rkṣānana, puṣpapra, pūruṣaḥ pragaṛhīta, gau/ vīthī, kala, vibhi, vastrairvihī, sthānasukhā, prathu// manur, manora, kūrcī, ro, kalā, ki, snehamadyaja/ dagdha, śyāma, srug, attyuccri, śvbhretyādibhirīritā// meṣādyādya jhaṣāntyādyā drēkkāṇāḥ svasvarūpataḥ/ vastrāstrabhūṣṇākārān vadeccorasya tatsamān// (29, 43-36)

through that particular decanate, is the exact time-period of happenings.

Iconography, Astrology and Other Indigenous Systems

In astrological realm, the true representations of such brilliant iconographical symbol also owes to the folk tradition of parrot astrology in India. Here it will be quite interesting to compare this drekkāṇic iconographic system for prediction with the indigenous systems of Indian Astrology.

i) In drekkāṇic tradition they have a limited number of thirty six pictures of these thirty six drekkāṇa-s. In Parrot Astrology also, pictures are much relevant for prediction. Here a picture from a set of pictures is selected by the astrologer's parrot which is the indicator of results. The pictures are painted in such a way that it leaves much scope for interpretation from the part of astrologer just like drekkānasvarūpa-s. Looking upon this picture and its' characteristics, astrologer is free to predict the future of his client with his intuitive power.

ii) Betel Astrology (Tāmbūlajyotiṣa) tradition in Kerala also have similarities in another regard. There is no pictorial representation, the betel given by the clients stand as the objective representation instead. Here the first twelve betels are taken for prediction each representing different aspects of life.

However it is doubtful that whether Mihira had original pictures of drekkāṇa-s with him while composing these verses, but the contemporary artists have to confront with many challenges while drawing the lithographs of these decanates as the modern astrologers interpret the meanings of these original words differently through the loop-holes provided within the verses. In Kerala, nowadays these are mostly implied in Devapraśna (diety-related queries) for the contemplation of deity and its' weapons and characters.

Conclusion

The concept of 36 decanates of Hindu astrology can be traced

back to thirty six, Egyptian 'decans'. Probably this Egyptian contribution was later brought to India by some Greek astrologers, which persuaded Mihira to thank those for the same. Otherwise in ancient India, the term 'Yavana' may include both the Egyptians and Greeks together.

From the above arguements it is easy to conclude that drekkāṇa having such speculative nature of iconographical representation owes more importance among all other sign partitions or varga-s in Indian system. Varāhamihira does not say directly about the implications of drekkāṇic illustrations. Later Indian astrological schools, like the Svarṇapraśna system of Kerala advanced to a great extent in implying these. Thus drekkāṇic prediction in astrology reached its' completion.

Western astrologers are now advancing in the field of 'harmonics' for new predictive techniques; i.e. instead of dividing a sign into partitions, it is multiplied. But we are unfortunate in reconstructing any traces of these decanate-illustrations or its' implications in western or Greek astrology. But Egyptian astrology and astronomy can throw as stream of light for the same.

The interpretation or intuition whatever may the term be, its' contemplation in predictive astrology demands a high sort of expertise rather than that of the other sixteen or sometimes six varga-s in Indian astrology. It is very difficult to answer such a question that "is prediction a science?" Academicians are still in confusions as whether does it belong originally to a branch of science. Whatever may the conclusions, Indians have made many systematic advancements for accurate predictions, thus endowing this branch of knowledge to be more scientific in all its' aspects.

◆◆◆

Appendix
Some Drekkāṇic Illustrations-Contemporary Lithographs

	sūcyāśryaṃ samabhivāñcati karma nārī rūpānvitābharaṇa-kāryakṛtādarā ca/ hīnaprajōcchritabhujarttumatī tribhāgamādyaṃ tṛtīyabhavansya vadanti tajjñāḥ// [The First Drekkāṇa of Gemini represents a beautiful female fond of needlework, without any issues, with a penchant for ornamentation, with lifted hand]
	udyānasaṃsthaḥ kavacī dhanuṣmān śūrostradharī garuḍānanaśca/ krīḍātmajāl- aṅkaraṇārthacintāṃ karoti madhya mithunasya cāyaṃ// [The Second Drekkāṇa of Gemini represents a man, living in graden, well armored, with a bow, warlike, armed with weapons, face like that of a Bird and fond of paly, children, ornamentation and wealth.]
	padmārccitā mūrdhani bhogiyuktā strī karkkaśāraṇyagatā virauti/ śākhāṃ palāśasya samāśritā ca madhya sthitā karkkaṭakasya rāśeḥ// [The Second Drekkāṇa of Cancer represents a youthful female crowned with lotus flowers & serpents, in her first virginal blossom, inhabiting forests, crying holoding a branch of a tree in a forest.]
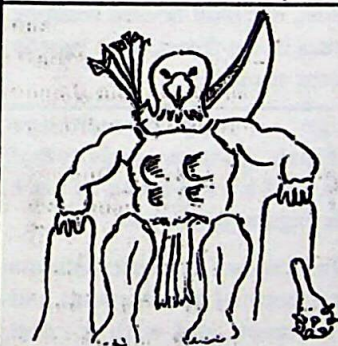
puṣpaprapūrṇṇena ghaṭena kanyā
malapradighām-barasaṃvṛtāngī/
vastrārthasa-myōgamabhīpsyamānā
gurōḥ kulaṃ vañcati kanyakādayā//

[The First Drekkāṇa of Virgo represents a virgin holding a pot full of flowers, appareled in dirty raiments, fond of money and clothes and going to the house of the Guru or Father.]
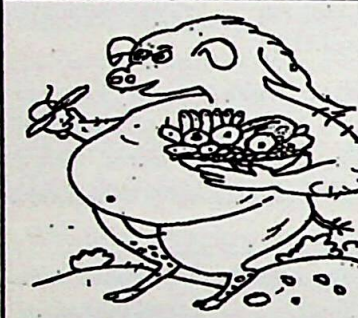
patramūlaphalabhṛt dvipakāyaḥ kānane
malayagaḥ śarabhāṅghriḥ/
krodatulyavadano hayakaṇḍhaḥ/
krodatulyavadano hayakaṇḍhaḥ
karakkaṭe prathamarūpamuśanti//

[The first Drekkāṇa of Cancer represents a man, pig faced, appareled in fruits, roots & leaves, elephant bodied residing on sandal trees in the forest, with speedy legs and horse necked.]

śvabhrāntike sarpaviveṣṭitāngo
vastrairvihīnaḥ puruṣastvaḍavyāṃ/
corānalavyākulitāntarātmā
vikrośatentopagato jhaṣasya//

[The 3rd Drekkāṇa of Pisces represents a man crying, covered with serpents and naked, in a forest, and with a mind disturbed by thieves and the enveloping fire.]
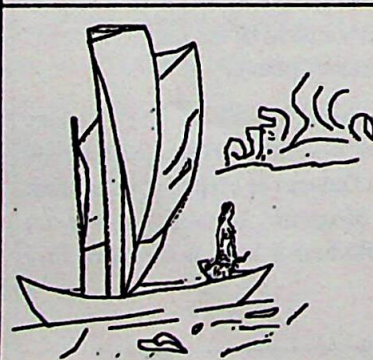
vastraivihīnabharaṇaiśca narī
mahāsamudrāt samupaiti kūlaṃ/
sthānacyutā sarppanibaddhapādā
manoramā vṛścikarāśipūrvvā//

[The first decanate of Scorpio represents a beautiful woman, absolutely ravishing, with ornaments, devoid of clothes, dislocated from her place of domicile, arriving from the middle of the ocean to sea-shore, with serpents all over her feet.]